कुछ सच : कुछ झूठ

ઔર કુછ

इस पुस्तक का
सच अपने पास रखकर
झूठ अपने
प्रिय पाठकों को सादर समर्पित
कर रहा हूँ

लेखक
व्यंग्य-चित्रकार की दृष्टि में

कुल दो सौ पच्चीस शब्द

इस पुस्तक में सच भी है और झूठ भी। सच कितना है और झूठ कितना, इसे जानना हो तो आप ही जानिए। मेरे लिए तो सच और झूठ दोनों ही बराबर हैं। न सच बोलने से मुझे कोई जागीर मिली, न झूठ बोलने पर किसी ने फाँसी दी।

झूठ क्या है और सच क्या है, इस पचड़े में भी मैं पड़ना नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि जिस महान शताब्दी में मैंने जन्म लिया है, उसके लोग किसी भी सच को झूठ में, किसी भी झूठ को जब चाहें तब अपने मतलब के अनुसार सच में परिवर्तित कर सकते हैं। तब मैं सत्य का आग्रही क्यों बनूँ? असत्य से भी क्यों मुँह मोड़ूँ?

इसीलिए इस पुस्तक में मैंने सच और झूठ दोनों में से किसी को नाराज नहीं किया। इसमें जो कड़वा है, असंभव है, असहज है, बस, समझ लीजिए वह सत्य है। जो मीठा है, सहज है, संभव है, उसे समझ लीजिए कि झूठ है। अब यह आपकी रुचि और योग्यता पर निर्भर है कि आप सत्य को सहेजते हैं, या झूठ को बटोरते हैं।

प्रत्येक प्राणी के असत्य जीवन में कुछ सत्य घटनाएँ घट ही जाती हैं। साहित्यकार उन्हें ले उड़ते हैं। बाद में वे जिस घटना के सत्य को जितना अधिक छिपाने में समर्थ होजाते हैं, वह रचना उतनी ही अधिक साहित्यिक समझ ली जाती है। सत्य, बिना झूठ की पालिश के चमकता भी तो नहीं है।

—गोपालप्रसाद व्यास

दिल्ली

११ मई, १९५८

क्रम

जागती, तबतक वाहरी तैयारी तो पूरी कर ही लेनी चाहिए। यद्यपि मैंने लम्वे-लम्वे वाल नहीं बढ़ाए और न अपने नाम को उतारकर कोई नया नाम ही धारण किया, लेकिन बावजूद वाल और नाम रखने के मैंने अपने आपको उस हद तक 'कार्टून' अवश्य बना लिया कि मेरी लटपटी चाल और अटपटी बातों को देखकर कोई भी दूर से ही बता सकता था कि हाँ, सचमुच कोई हिन्दी का कलाकार आरहा है ।

इस कार्य में भगवान भी थोड़े सहायक सिद्ध हुए । उन्होंने असमय ही मेरी मा को धरती से उठा लिया और पिताजी का मन मुझसे फेर दिया । अपने मार्ग से माता और पिता दोनों के हट जाने पर मैं पूरी तरह निरंकुश हो उठा । अपनी निरंकुशता पर मुझे खेद के बजाय प्रसन्नता ही अधिक थी । क्योंकि मैंने सुन रखा था कि कवि बनने के लिए निरंकुश होना पहली शर्त है ।

अंग्रेजी के सातवें दर्जे का इम्तिहान देने वाला था, मगर सोचा कि जब कवि बनना है तो पढ़-लिखकर क्या होगा ? स्कूल को तिलांजलि दे दी । अब रात को दो-दो बजे तक ताश-चौपड़ खेलता और सुवह दस-दस वजे सोकर उठता । दोनों कानों में इत्र के महकते हुए फोए लगाता और शाम को सुरमा सारकर गले में सुगंधित फूलों के गजरे डाल बाजार में इस तरह गबरू की तरह झूमता हुआ चलता कि लोग इस नए छैले को देखते ही रह जाते ।/

यमुना में स्नान करती हुई ब्रज-सुन्दरियों को, मन्दिरों में झाँकी लेती और देती हुई अभिनव मीराओं को और मथुरा की सुरम्य बीथियों में अभिसार को निकली हुई प्रमदाओं को खोई-खोई आँखों से देखते रहना अब मेरा नित्य-क्रम बन गया था ।

रीतिकालीन कवियों के आधार पर मैंने नायिकाओं के नख-शिख का गहन अध्ययन किया । सोलहवें साल में प्रवेश होते-न-होते, वात्सायन का कामसूत्र भी पढ़ डाला । परन्तु मेरे ऊसर मन में कविता के सरस अंकुर नहीं जमे । नवरस पढ़ लेने पर भी काव्यरस की कल्लोलिनी नहीं बही । तब मैंने हिमालय से शुद्ध ब्राह्मी बूटी मंगवाई । मथुरा

जल से वालटियों से नहलाया जाता। आगरे में उन दिनों नई-नई प्रगतिशील लेखक संघ की शाखा खुली थी। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की प्रेरणा से मैं भी उसके पाँचवें सवारों में था। मालूम पड़ता है कि इसकी छूत भैंस को भी लग गई और उसने वर्गभेद के विरुद्ध वगावत कर दी। एक दिन जव वावूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी तो भैंस भी अपना अधिकार समझकर उसमें घुस पड़ी। संकरा दरवाजा, छोटी जगह! भैंस घुस तो गई, मगर अव निकले कैसे? वच्चे-कच्चों ने जो छेड़छाड़ की तो भैंस विगड़ गई। घर में कुहराम मच गया। कॉलेज से दौड़े-दौड़े वावूजी घर आए। हम लोगों ने सुना तो हम भी कौतुकवश जा पहुँचे। अजीव दृश्य था। एकदम नई उलझन थी। प्रगतिशील भैंस के वढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने को कतई तैयार न थे। उसे पुचकारा गया, मगर वह नहीं पिघली। ललकारा गया, मगर वह नहीं लौटी। सरसों की हरी-हरी डालियाँ तोड़कर उसे ललचाया गया, मगर सच्चे क्रान्तिकारियों की तरह उसने उनकी ओर झाँका तक नहीं।

आखिर लम्वे-लम्वे रस्से मंगवाए गए। कुछ को पैरों में वाँधा गया, कुछ को कमर में फंसाया गया। एक वड़ी वर्त गले में अटकाई। तव कहीं राम-राम कहकर, दस-वारह आदमियों ने, अक्ल से नहीं, पशुवल से ही भैंस को गुसलखाने से वाहर निकाला।

वाहर निकलने पर उसने वड़े विजय गर्व से पूंछ उठाकर हमें देखा। मानो चुनौती देरही हो कि वोलो, आदमी की अक्ल के कितने पैसे उठते हैं?

मेरे अन्तर के तार एकदम जैसे झनझना उठे! मेरे सुप्त भावों की सरोवर में जैसे किसीने गहरी ईंट फेंक दी। मानो गहरी नींद में सोते हुए मुझको किसीने जोरों से चिकोटी काट ली। मेरा मन हर्षातिरेक से भर गया! अनायास ही व्यंग्य और विनोद मेरी वाहों में आ गए और वोले : कवि, लो आज से हम तुम्हारे हुए! मैंने मन-ही-मन कृष्णस्वरूपा पयस्विनी अपनी इस आदि-प्रेरणा को नमस्कार किया और उसी दिन से विना झिझक के मैं हास्यरस लिखने लगा।

आज भी जब मैं अपने पिछले हास्य-साहित्य पर दृष्टि डालता हूँ, या कुछ नया लिखने बैठता हूँ, तो न मुझे नेहरूजी का 'जयहिन्द' याद आता है, न टण्डनजी का 'जयभारत', अन्तर्मन के साथ-साथ मेरे शरीर का रोम-रोम बस एक ही नारे को बुलन्द करता है—जय भैंस !

२

वह पत्र, जो भेजा न गया

अपनी असाधारण शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद भारतीय युवक के सामने केवल यही कर्तव्य शेष रहता है कि या तो वह धूम-धाम से किसी काठ में अपना पैर फंसा दे या उस शुभ कार्य की वेला में अगर कुछ विलम्ब दिखाई देता हो तो थोड़ा-सा धीरज से काम ले, और अपने स्वास्थ्य सुधार की योजना में तन-मन-धन से जुट जाय। लेकिन आप जानते हैं, हाथ की पाँचों अंगुलियाँ एक-सी नहीं होतीं। कुछ ऐसे भी होते हैं कि पढ़ाई समाप्त करते ही जीविका यानी महज क्लर्की प्राप्त करने के आन्दोलन में इस जोर-शोर से पिलते हैं कि बेचारी कितनी ही जोड़ी जूतियों की जीवन-लीला असमय में ही समाप्त होजाती है।

मैंने भी जब दर्जा ७ का इम्तिहान न देकर अपनी पढ़ाई समाप्त

की तो प्रश्न उठा कि अब क्या किया जाय ? विवाह-विधि तो अपनी राम-कृपा से पढ़ाई अधूरी रहने से भी पहले पूरी होगई थी, और सौभाग्य से स्वास्थ्य में मुझे भी क्या, किसीको भी सुधार की कोई गुंजाइश नजर नहीं आती थी। क्लर्की के लिए एक बार नहीं हज़ार बार सोचा, मगर वह हाथ पड़ती दिखाई न दी। बी० ए० पासों को अपने अर्जित पुण्य-प्रतापों के फलस्वरूप प्रसाद में कुछ धक्के तो भी मिल जाया करते थे, मगर मुझ अमिडिल को उसमें भी टोटा दिखाई दे रहा था।

तब सोचा, लाओ और नहीं तो लेखक ही बना जायें। क्योंकि इसके लिए न बी० ए० होने की ज़रूरत है, न 'विशारद' की। इसमें न कुछ पढ़ने की आवश्यकता है, न सुनने की। बस, कागज-कलम और फुर्सत ही तो चाहिए इसमें। सौभाग्य से उन दिनों मेरे पास इन चीजों की कोई कमी नहीं थी।

तो, मैंने अपना पहला लेख बड़ी तैयारी से तैयार किया। एक-एक वाक्य को तीन-तीन तरह लिखकर आजमाया। एक-एक विचार पर चार-चार बार पालिश की। रात को सोचता, दिन में लिखता। दिन में लिखता, रात को काट देता। राम-राम कहकर पूरे पन्द्रह दिन में लेख की पांडुलिपि तैयार हुई। काट-पीट और सही-दुरुस्ती में कोई तीन दस्ते कोरे कागज काम आगए। मगर लेख भी ऐसा तैयार हुआ, जैसे दही बड़े का पत्ता! जो चखे, वही 'सी' करके रह जाय!

नाम नहीं बताऊँगा। उससे लाभ ही क्या? यह समझ लीजिए कि उत्तर-प्रदेश के एक उत्तम नगर की सर्वोत्तम पत्रिका में एक दिन घड़ी-महूरत देखकर लेख की रजिस्ट्री करा दी।

मैं लेख की स्वीकृति की बाट देखने लगा। सप्ताह के भीतर आ जानी चाहिए थी, मगर नहीं आई। सोचा, संपादकजी हैं, हजार काम होते हैं, आती ही होगी। दूसरा सप्ताह गुजरा तो ध्यान डाक की गड़-बड़ी पर गया। डाकिए को डाटा, पोस्टमास्टर को लिखा, अड़ौस-पड़ौस से पूछ आया कि भूल से कहीं मेरी चिट्ठी कहीं और तो नहीं पहुँच

गई। तीसरे सप्ताह खयाल आया कि जवाब पाना है तो पत्र जवाबी डालना चाहिए। फौरन जवाबी कार्ड रवाना कर दिया गया। अब तो बस, उत्तर आता ही होगा।

ब्रजभाषा के रीतिकालीन साहित्य में मैंने गहरी डुबकियाँ लगाई हैं। उत्कंठिता नायिकाओं के अनेक उदाहरण मुझे आज भी कंठस्थ हैं। लेकिन उन दिनों डाकिए की प्रतीक्षा में जो हाव-भाव और चेष्टाएँ मुझमें प्रकट हुईं, उनके सामने हजारों उत्कंठिता और वासकसज्जाएँ पानी भरती थीं। डाक का समय होते ही मैं कसरत करने लगता। कभी थककर बैठ जाता, कभी उठकर चलने लगता। लेकिन लेख को न जाने कौन रावण हर ले गया था, कि उसकी सुधि ही नहीं मिलती थी।

दिल में भाँति-भाँति के विचार आते। रात को तरह-तरह के सपने दिखाई देते। मेरी अस्त-व्यस्त दशा और डाकिए का बेकली-से इन्तजार और उधर श्रीमतीजी के मन में एक दूसरी ही भावधारा जागृत कर रहा था। समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ और क्या न करूँ ?

आखिर, जब पूरा एक-चौथाई वर्ष बीत गया और एक-एक करके मेरे दो दर्जन से ऊपर कार्ड-लिफाफे संपादकजी की वैतरिणी में डूब मरे, तो हारकर मैंने लेख छपने की आशा छोड़ दी और अविलम्ब लेख वापस करने के लिए टिकट भेज दिए।

मगर सम्पादकजी भी शायद मधुपुरी के आस-पास के रहने वाले थे कि रबड़ी की तरह ही वह मेरी इस २५वीं चिट्ठी को भी सहजभाव से उदरस्थ कर गए, और टिकटों का भी कोई दूसरा सदुपयोग सोच लिया।

वह तो भगवान ने भला किया कि सम्पादकजी मुझसे सैंकड़ों मील दूर थे, नहीं तो इस घटना ने मेरे दिमाग का संतुलन इस कदर बिगाड़ दिया था कि अगर वह कहीं नज़दीक होते तो न जाने क्या हो जाता ?

लेकिन मैंने भी सोच लिया था कि कुछ भी होजाय मुझे लेखक

बनकर ही रहना है और सम्पादकजी कैसी ही बेरुखी से पेश आएँ, लेख छपाकर ही छोड़ना है। न सही मेरे नाम से। सम्पादकजी भी याद रखेंगे कि किस आदमी से पाला पड़ा है। और साहब, आपको आज बताता हूँ कि मैंने वही लेख अपनी श्रीमतीजी से नकल कराकर एक अच्छे-से रोमांटिक पत्र के साथ ब्रजसुन्दरी देवी के नाम से दोबारा उसी पत्रिका में, उन्हीं सम्पादकजी के पास 'प्रकाशनार्थ' भेज दिया।

पता नहीं उस दिन सम्पादकजी को डाक जरा एक दिन पहले मिल गई, या उस दिन की डाक में ब्रजसुन्दरी देवी का लिफाफा ही सबसे ऊपर निकल आया, या उन्हें उस दिन कोई काम था ही नहीं कि तपाक से उन्होंने उत्तर दिया :

ब्रजसुन्दरीजी,

अभी आपका लेख मिला। इसकी पहली पंक्ति ने ही मुझे इस प्रकार आकृष्ट किया कि मैं पूरा लेख समाप्त किए बिना न रह सका। लेख समाप्त करते ही आपको पत्र लिख रहा हूँ। क्या तारीफ करूँ आपकी ? बहुत दिनों से ऐसा सुन्दर लेख नहीं पढ़ा। पढ़ते ही लगा कि आपकी लेखनी में वे सब गुण विद्यमान हैं जो मीरा में थे, महादेवी में हैं। मुझको, मेरी पत्रिका को आज से अपना ही समझिए और आगे से जो भी लिखिए वह मुझे ही भेजिए। लेख इसी अंक में छप रहा है। और हाँ, आपका पहला लेख मैं बिना आपके सुन्दर चित्र के छापना पसन्द नहीं करूँगा। आपके कलापूर्ण अक्षर आपकी रसज्ञता और विरल व्यक्तित्व का आभास दे रहे हैं। मुझे आपके उज्ज्वल भविष्य में कोई संदेह नहीं। निश्चय ही आपके चित्र से पत्र की शोभा बढ़ जायगी। इसलिए भूलिए नहीं। टालिए भी नहीं। वापसी डाक से अपनी छवि (फोटो) भेज दीजिए। प्रतीक्षा में हूँ। शेष फिर···

भवदीय—

··············

मुझे आज की-सी याद है कि संपादकजी का लिफाफा कुछ आसमानी से रंग का था। उसमें से कुछ भीनी-भीनी सुगंध-सी भी आरही थी। तीर निशाने पर बैठ गया था। मगर अब चित्र किसका भेजा जाय ? श्रीमतीजी ने जिस सेवाभाव से लेख की और चिट्ठी की नकल कर दी थी उसी भाव से वह अपना चित्र भी प्रदान कर देंगी, ऐसी मुझे आशा न थी। न जाने क्या बात है कि मैं नेताओं से लेकर स्वयंसेवकों तक को डांट-फटकार लेता हूँ। विद्वानों से लेकर मूर्खों तक से बुद्धि-व्यापार चला लेता हूँ। चपरासियों से लेकर भीड़ तक का मुकाबिला मैंने जिन्दगी में अनेक बार किया है। मगर महज ५ फुट ३ इंच की सीधी-सी लगने वाली अपनी श्रीमतीजी के सम्मुख जाते ही मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम होजाती है। कहना कुछ चाहता हूँ, निकल कुछ जाता है। सही बात यह है कि मेरा उनके सामने मुँह ही नहीं खुलता।

शायद उस बार भी मैं अपनी बात श्रीमतीजी के सम्मुख ढंग से नहीं रख सका। इसीलिए उन्होंने लगभग फटकारते हुए कहा : "ये भले आदमियों के लच्छन नहीं हैं कि अपनी औरतों के चित्र अखबारों में छपवाते फिरें।"

हाय राम ! मैं उन्हें कैसे समझाता कि अरे जग्गो की जीजी ! तू क्या जाने कि भले आदमी अपना चित्र अखबारों में छपवाने के लिए न जाने क्या-क्या किया करते हैं ? लेकिन प्रकट में डरते-डरते कहा : "जी, चित्र तो अखबारों में भाग्यवान के ही छपते हैं।"

तो तुनककर बोलीं : "तो यह सौभाग्य आप ही को मुबारिक रहे। आप अपने ही नाम से लेख छपवाएँ और खुद ही साड़ी जम्फर पहन कर चित्र भी खिचवा लीजिए।"

मेरी रेखें उन दिनों पूरी तरह नहीं फूटी थीं। बचपन में नाटक, रामलीलाओं में मैंने नारियों के पार्ट भी बड़ी अदाओं से अदा किए थे। सोचा, लाओ एक बार फिर सही।

लेकिन बात खाली नारी चित्र की ही नहीं थी, उसके सुन्दर लगने की भी थी। रात के अंधेरे में कीचक को भीम के पहचानने में भले ही

गलती हो गई हो, लेकिन दिन के उजाले में अनुभवी संपादकजी की आँखें धोखा नहीं खा सकतीं थीं, कि तभी विजली की तरह एक विचार मेरे मन में लपक गया। मैंने अपने अन्तर के सारे रस को उंडेल कर संपादकजी को एक पत्र फिर लिखा :

"......!

समझ में नहीं आता कि आपको किस सम्वोधन से याद करूँ! हे मेरे पथ को आलोकित करने वाले देवदूत! जब से आपकी चिट्ठी मिली है, मैं कुछ-की-कुछ होगई हूँ! न मेरा काम में मन लगता है, न आराम में। जैसे युग-युग से भटकी हुई आत्मा को उसका सम्वल मिल गया हो। जैसे मोहन की वंसी को सुनकर जड़ भी चेतन होजाया करते थे, वैसे ही इस पत्र को पाकर मेरा रोम-रोम पुलक से भर उठा है।

ओ मेरे स्वर्णिम संगीत के गायक! तुमने (क्षमा कीजिए मैं अब आप शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती मेरी सोई हुई वीणा पर अपनी अंगुलियाँ फेर दी हैं। मैं निहाल हुई! जी उठी!! धन्य हुई!!! मैं लिखूंगी, तुम्हारे कहने से लिखूंगी, या कहूँ कि तुम्हारे ही लिए लिखूंगी। मैं मीरा और महादेवी चाहे न वन सकूँ, मगर तुम्हारे स्वप्नों को अपना वश चलते सहज ही अधूरा न रहने दूंगी।

पारखी! तुमने मेरा चित्र माँगा है। काश, कि मैं तुम्हारी इस छोटी-सी माँग को, कहूँ कि आज्ञा को पूरा कर पाती! मुझे गलत न समझना। मैं वहुत दुखी हूँ। नारी होते तो मेरी व्यथा को ठीक से समझते। मैं जिस आदमी के पल्ले पड़ी हूँ, कहने को तो वह मेरे पतिदेव हैं, मगर रहने दो क्या कहूँ? वस, संक्षेप में यह समझ लेना कि मैं ३ हूँ तो वह ६। मैं पूरव हूँ तो वह पश्चिम। मैं वसन्त हूँ तो वह पतझड़। मैं वंशी हूँ तो वह ढोल। मेरा लिखना-पढ़ना उन्हें फूटी आँखों नहीं सुहाता। न कहीं आने देते हैं न जाने देते हैं। मेरी सुन्दरता भी तो मरी मेरे लिए अभिशाप

होगई है। वस, डिबिया में मुझे बन्द करके रख छोड़ा है।

लेकिन बहुत हुआ। वहुत दबी मैं। अब नहीं दबूँगी। मैं कोई उनकी जागीर नहीं हूँ। तुम नहीं जानते कि तुम्हारे पत्र ने मुझमें विद्रोह की कैसी भैरवी फूँक दी है ? मैं जान देकर भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा करूँगी। अपनी प्रतिभा को नष्ट न होने दूंगी। कुछ भी होजाय, अब तो मैं मीरा वन कर ही रहूँगी···। मेरे उद्धारक, याद रखना मेरी इस वात को।

अधिक क्या लिखूँ ? कोई आरहा है। और कोई नहीं, स्वयं वही आरहे हैं। पत्र वन्द करती हूँ···। लेख फिलहाल विना चित्र के ही छाप दीजिए। प्रयत्न में हूँ कि चित्र भी आपको शीघ्र ही भेज सकूँ।

तुम्हारे पत्र की अपलक प्रतीक्षा में !

तुम्हारी—
व्रजसुन्दरी

पत्र को एक वार पढ़ा, दो वार पढ़ा, मजा आगया। लेकिन साथ ही यह समस्या भी पैदा होगई कि इसे अव फिर श्रीमतीजी से नकल कैसे कराया जाय ? श्रीमतीजी से इस वारे में कुछ कहना वर्र के छत्ते में हाथ डालना था। मगर विना कहे गति भी नहीं थी। सोचा, क्या आदमी हो, औरत के साथ जरा रौव से काम लेना चाहिए। मैंने ज़रा मुँह विगाड़कर रुखाई से कहा : "देखना जी, इस चिट्ठी की नकल मुझे अभी चाहिए।"

उन्होंने नीचे से ऊपर तक मुझे वड़े गौर से देखा। मगर कुछ कहा नहीं और हाथ वढ़ाकर चिट्ठी ले ली।

लेकिन देखता क्या हूँ कि चिट्ठी के पढ़ते ही उनके तन-वदन में ज्वाला-सी भभक उठी। उनकी साँस जल्दी-जल्दी उठने लगी और गिरने लगी। मुँह तमतमा आया। ओठ फड़फड़ा आए। आँखों में अंगारे से वरसाती हुई वह विजली की तरह एकाएक कड़की—"कौन है यह कलमुंही व्रजसुन्दरी ?"

इस असम्भावित पर्लहार्बर जैसे आक्रमण से मेरे होश फाख्ता हो गए ! सर चकरा उठा ! कंठ अवरुद्ध होगया । मुश्किल से मैंने हकलाते हुए कहा, "अरे···कोई नहीं, कोई नहीं, यह नाम तो फर्जी है, जाली है ।"

लेकिन उन्होंने बीच में ही डपटकर कहा : "जाली है, फर्जी है ! मैं तुम्हारे सब ज़ाल-फरेबों को अच्छी तरह जानती हूँ । हाय राम ! मैं तो तुम्हें बड़ा भोला समझती थी । दैया री ! मेरी तो तकदीर ही फूट गई !"

कहते-कहते उनकी आँखों से गंगा-यमुना फूट पड़ी । और मेरा हाल होगया कि 'आए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास ।' जितना सुलझाता मामला उतना ही उलझता था । सैंकड़ों कसमें खाईं, हजार मिन्नतें कीं और एक बार तो सच कहता हूँ कि झुककर उनके पैर तक पकड़ लिए, मगर लेख की नकल करना तो दूर वह यह मानने तक को तैयार नहीं हुई कि व्रजसुन्दरी देवी काग़जी हैं ।

कोई अठारह साल से यह बिना भेजा हुआ पत्र उनकी सन्दूक के तले में दबा हुआ पड़ा था । इस बार दीवाली की सफाई में यह मेरे हाथ लग गया तो मैंने सोचा लाओ, इसे आपको भी बता दूं । मगर सोचिए, अगर यह पत्र कहीं सम्पादकजी के पास चला गया होता, तो ?

⊛
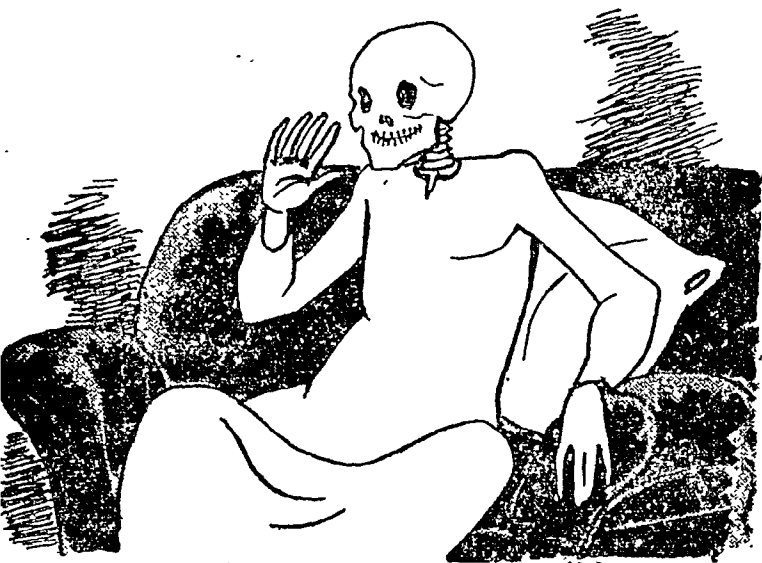
३

मैं हूँ आपका शुभचिन्तक

मैं शेर से नहीं डरता। डरूँ भी क्यों ? शहर में रहता हूँ। शिकार खेलता नहीं। खुले में कभी शेर के दर्शन का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हो तो उससे मोहब्बत करने या डरने का सवाल पैदा हो भी। शेर को जब कभी देखता हूँ तो पिंजड़े में, या पर्दे पर। वहाँ उस पर डरने को नहीं, दया करने को ही दिल चाहता है।

पहले साँप से बड़ा डर लगता था, पर जब से यह पढ़ा-सुना कि साँप खुद आदमी से डरता है, और हर साँप जहरीला नहीं होता और साँप का जहर आदमी की जबान में उतर आया है, तबसे नाग देवता का भी भय जाता रहा है।

और भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी—ये सब तो हिन्दुस्तान में रेल-भवानी के चलते ही ऐसे गायब हुए हैं कि उनके दर्शन छोड़, चर्चा भी अब कहीं सुनने में नहीं आती। भूत रहकर भी

क्या करते ? जब से संस्कृति के नाम पर, समालोचना के नाम पर भूतकाल को महत्त्व देना प्रारम्भ हुआ है, और खेती के लिए नई भूमि प्राप्त करने को आक-ढाक ही नहीं, भूतों के सनातन निवास-स्थान वड़, पीपल और इमली के दरख्त भी काटने शुरू कर दिए गए हैं और भूतहा मकानों में जब से हमारे पुरुषार्थी भाइयों ने निश्शंक डेरा डालना शुरू किया है, भूत बेचारों ने वहाँ से भागने में ही अपनी खैर समझी है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मैं शेर, साँप और भूत से नहीं डरता। पर इसके मानी यह भी नहीं कि मैं किसीसे भी नहीं डरता। एक बात यहाँ स्पष्ट कर दूं। मैं और चाहे जो कुछ हूँ, दार्शनिक टाइप का आदमी बिल्कुल नहीं हूँ। यानी जो अपने आपे से ही डरता हो, ऐसा आदमी। मैं उस खास किस्म का विचारक भी नहीं, जो और कुछ नहीं तो डरने के लिए ही डरा करे।

बताऊँ बात मैं अपनी आपको ? 'जड़-चेतन गुण दोष-मय' जो यह विधाता की सृष्टि है, उसमें मुझे किसी से कोई भय नहीं। जबसे रेल-तार-डाक हवाई-जहाजों के संयोग से धरती छोटी हुई है और देश-काल, समय और परिस्थियों में ही नहीं, सभ्यता और संस्कृतियों में भी हेलमेल होना शुरू हुआ है, उसकी खबर पा-पाकर मैंने पाप-पुण्यों से भी डरना छोड़ दिया है। सच कहूँ ? जन्म का वैष्णव मैं, अब तो मैं कभी ईश्वर का भी डरकर नाम नहीं लेता। हाँ, मैं डरता हूँ। डरता हूँ सिर्फ अपने ही जैसे दो हाथ, दो पैर, आँख, नाक, मस्तिष्क वाले आदमी से। क्योंकि दुनिया में सबसे वश पाया जा सकता है, पर यह जो बुद्धि का भरोसा पाया हुआ आदमी है, वह कब क्या कर बैठेगा, इसका कोई भरोसा नहीं।

और, आदमी अगर कोई आपका शत्रु है तो उससे भी भय करने की सलाह मैं आपको नहीं दूंगा। लेकिन वह अपने-आपको यदि आपका मित्र या शुभचिन्तक बताता हैं, तो समझ लीजिए कि खतरा दूर नहीं, एकदम आपके सिर पर सवार है।

आप भी सोचते होंगे कि क्या मजाक करता हूँ मैं ? शुभचिन्तक से खतरा !

मजाक करने की यों मेरी आदत है, पर इस समय मैं कतई उसके 'मूड' में नहीं हूँ। यों यह बात हर एक के साथ लागू है, और मेरे बारे में तो आपमें से हरेक जानता है कि दुनिया में अगर मैं घबराता हूँ तो सिर्फ अपनी पत्नी से। लेकिन यह जो शुभचित्तक नाम का प्राणी है, अगर तुलना की जाय तो यह श्रीमतियों से भी अधिक खतरनाक है। श्रीमतियाँ तो अपने पति से व्यवहार करते समय लोक-परलोक का कुछ ख्याल कर भी लेती हैं, लेकिन इन महाशयों को तो न लोक का भय है, न परलोक का।

दूसरों के उदाहरण से कोई लाभ नहीं। मैं अपनी ही बात कहूँगा। बचपन में एक बार आँख दुखनी आई। किसीने कहा—गेरू के फाए बांधो। मा गेरू घिसने लगीं तो एक शुभचिन्तक बोले—अजी आँखों को कुछ भी तो नहीं हुआ। कनपटियों के इधर-उधर जरा-सा चूना लगा दो। सुबह तक भट्टे-सी खुल जाएँगी। लेकिन जब रात में कड़का चलने लगा और बेचैनी बहुत बढ़ गई तो घरवाले परेशान होगए। सलाह हुई कि मलाई की तह आँखों पर जमाकर पट्टी बांध दी जाय। मगर न जाने कहाँ से फिर एक और शुभचिन्तक उसी समय आ टपके। कहने लगे, मेरी मानो, बच्चे को अगर नींद आजाय तो सारा दर्द दूर होजाय। थोड़ी अफीम घर में है ? अगर हो तो निकालिए, मैं दर्द हवा किए देता हूँ।

हुआ यह कि अफीम तलाश करके लाई गई और उसकी एक डली जबरन मेरे मुँह में दो आदमियों ने ताकत लगाकर पानी के सहारे नीचे खिसकादी। अफीम से आँख के मर्ज का क्या सरोकार ? लेकिन शुभ-चिन्तक की सलाह कैसे अनसुनी की जा सकती थी ? भले ही उससे मुझे तीन दिन तक बेहोशी रही और मेरे घरवालों को आँखों से अधिक मेरी चेतना को वापस लाने के लाले पड़ गए। इस बीच आँखों के मर्ज की जो उपेक्षा हुई उसका परिणाम आप जानते हैं; क्या हुआ ? आँखें

सूजकर टेसू के फूल जैसी होगईं। छः महीने तक गाँव से शहर और शहर से कमिश्नरी के डाक्टरों और अस्पतालों की जारत एक-दूसरे शुभचिन्तक की सलाह पर करनी पड़ी और जनाव मेरी कटोरे जैसी आँखें, जिन्हें युवावस्था में कमल जैसी, हिरन जैसी कहा जाता था—आज इतनी छोटी होगई हैं कि वाहर की तो छोड़िए, घर की अपनी औरत पर भी उनसे रौव नहीं पड़ता। कभी आँख निकालकर उनसे कुछ कहता भी हूँ तो वह हँसकर यही उत्तर देती : "रहने दो। इन मिर्च-सी आँखों को किसी ओर को दिखाना।"

आँखों के साथ ही नहीं, शुभचिंतकों ने मेरे 'कैरियर' के साथ भी कम खिलवाड़ नहीं की। खरामा-खरामा कभी 'क्लियर' कभी 'प्रोमोशन' से शिक्षा के दरवाजे यानी मैट्रिक की ओर मैं लुढ़का चला ही जारहा था कि दैव-दुर्योग से असमय, वीच में ही, मेरी माताजी का देहान्त होगया। मैं पूछता हूँ कि मा कितने सौभाग्यशालियों की अन्त तक जीवित रहती हैं। किसी की जन्म देकर, किसी की पढ़ा-लिखाकर, किसी की शादी के वाद, किसी की शादी के पीछे, गरज यह कि मा सबकी मर ही जाती है। मेरी मा भी मर गई तो इसमें अनहोनी क्या हो गई? कि साहब जमाने-भर के शुभचिंतकों ने मेरे पिताजी को घेर लिया। वोले : विना स्त्री के घर नहीं चल सकता। पंडितजी आपका शरीर वृद्ध। लड़का आपका अकेला। घर में मा नहीं, वहन नहीं, न जाने किस सोहवत में वैठे, कहाँ रहे, क्या खाए? आप अपने सामने ही इसकी चाईं-माईं कर डालिए। कम-से-कम पकी हुई रोटी, भरे हुए लोटे और जले हुए दीपक का तो सुख ही हो जाएगा। नहीं तो उम्र आपकी भगवद्भजन की और आप लगेंगे रसोई में, चौका-वर्तन में और झाड़ू-वुहारी में!

और जी, मैंने लाख विरोध किया, रोया, रोटियाँ छोड़ीं, मेरी एक नहीं चली। एक दिन ये शुभचिन्तक लोग मूंछों पर ताव देकर गा-वजाकर मुंह-पेट पर हाथ फिराकर मुझे चौपाया वना ही लाए।

मेरी मुसीवतों का अन्त यहीं नहीं हुआ। शादी के वाद जब वस्ता

लटकाकर मैं फिर स्कूल रवाना होने लगा तो एक शुभचिन्तक कहने लगे—तुम्हें शर्म नहीं आती। कब तक पिताजी पर भार बने रहोगे? तुम्हें पढ़ा दिया, लिखा दिया, शादी करदी, अब खाओ-कमाओ। क्यों बेचारे पंडितजी की जान को बवाल बने हुए हो।

यही नहीं, कोई एक अत्यन्त शुभचिन्तक तो मेरे स्कूल में भी मेरी शादी होने की खबर परोपकार-वश पहुँचा आए। नतीजा यह हुआ कि मेरी मा जिस बच्चे को डाक्टर, वकील, प्रोफेसर और न जाने क्या-क्या बनाने का स्वप्न देखते-देखते परलोक सिधार गई थी, उसे अपना जीवन ८ रु० की कम्पोजीटरी से प्रारम्भ करना पड़ा।

तभी से शुभचिन्तकों के सत्परामर्श से मेरा विश्वास हट गया है। अब जब कभी कोई हँसता हुआ आकर मुझे विश्वास में लेकर कोई बात मेरे फायदे की कहता नजर आता है तो मुझे लगता है कि हो-न-हो इसमें कहीं-न-कहीं कोई गड़बड़ी अवश्य छिपी हुई है। इसी प्रकार, जब कोई मेरी दीन दशा पर आँसू बहाता हुआ मुझसे कोई सीख की बात कहता है तो उसका पहला असर मुझपर यही होता है कि अवश्य ही इन आँसुओं में मेरा उपहास छिपा हुआ है।

मैं यह नहीं कहता कि आदमी की भलमनसाहत से मेरा विश्वास जाता रहा है। पर जब एक-एक करके सारे शुभचिन्तकों के खोल उम्र और समझ की वृद्धि के साथ-साथ मेरे सामने उतरते गए हैं तो मेरे मन में यह विश्वास अवश्य जम गया है कि लोग दूसरों का शुभचिंतन आज के जमाने में कम ही करते हैं। आज का आदमी अपना शुभ-चिन्तन करता है और अपना शुभ साधने के लिए ही वह पर-चिन्ता का स्वांग भरता है। 'शहर के अंदेशे' की तो बात छोड़िए, आजकल अपने गोत्र या सगे-सम्बन्धियों का शुभचिन्तन करने वाले भी नहीं रहे। अगर हों तो मैं उनकी तलाश में हूँ। जिन्हें वे प्राप्त हैं, सचमुच ही धन्यभाग हैं वे। फिलहाल मेरा तो नारा यही है—मुझको मेरे शुभचिन्तकों से बचाओ।

४

प्रशंसा के चक्कर में फँसकर

मुझे बहुत-सी चीजें प्रिय हैं। कहें तो कुछ के नाम बताऊँ? गुलाब का इत्र, जुही की माला, रेशम का कुर्ता, खोए की बर्फी, दही की गुझियाँ, असली घी की जलेबी और मगही पान मिल जाएँ तो समझ लीजिए—'उहाँ छाँड़ि इहि बैठे बैकुण्ठा।'

ब्राह्मण हूँ, पर निरा पेटू नहीं। मुझे अपनी पुस्तकें भी कम प्रिय नहीं। लेकिन पुस्तकों से प्यार है, इसके यह अर्थ भी नहीं कि मैं संसारी नहीं। बीबी-बच्चे, घर-बार सभी तो मुझे प्यारे हैं।

फिर भी एक वस्तु ऐसी बच ही जाती है, जिसकी इन सब चीजों से कोई तुलना नहीं। वह कोई बहुत बड़ी वस्तु नहीं। एक छोटी-सी बात है। यही अपनी मामूली-सी प्रशंसा। बस, यही एक चीज़ ऐसी है जिसे सुनने के लिए मैं क्या नहीं कर सकता, क्या नहीं सह सकता?

खाना न दीजिए, कपड़ा न दीजिए, रुपया-रोज़गार न दीजिए, लेकिन कृपा करके दिल खोलकर, झूठी ही सही, मेरी प्रशंसा किए जाइए, मैं आपकी जूतियों का गुलाम हूँ। उस हालत में मुझ जैसा वेदाम का नौकर, वे-उजर चाकर, आप कहीं खोजे भी न पाइएगा। चालीस के ऊपर आयु होती आई। सैंकड़ों ही दोस्त वने। लेकिन टिके वही, जो मेरी प्रशंसा करते रहे। जिसने खरी कही, मैंने उससे अपनी राह गही। क्या वताऊँ, जानता सव हूँ, मगर इस मामले में मानता किसीकी नहीं। खरी वात कह सवसे सकता हूँ। लेकिन खरी सुनकर मुझे प्रसन्नता हर्गिज नहीं होती। असर मुझ पर मीठी वात का ही होता है। इसे लाचारी कहिए, कमज़ोरी कहिए, चाहें तो वुराई भी कह लीजिए। वात यह मुझमें है। मैं इससे इन्कार नहीं करता।

हिन्दुस्तान में सोने का वड़ा मोल है। लड़ाई समाप्त हुए एक जमाना होगया, मगर इसके भाव गिरते ही नहीं। कहते हैं 'प्लाटिनम' का मूल्य सोने से भी वड़ा है। रत्न-जवाहरातों के क्या कहने! लेकिन मेरी दृष्टि में इन सवका मूल्य प्रशंसा के दो मीठे शव्दों के मुकावले तीन कौड़ी का भी नहीं।

इसीलिए मैं प्रशंसक के मूल्य को अच्छी तरह जानता हूँ। क्यों न जानूँ? सरकारें भी तो प्रशंसकों के वल पर चलती हैं। सरकार क्या, भगवान को भी अगर प्रशंसकों का टोटा पड़ जाए तो उसकी भी वधिया वैठ जाए। तरह-तरह के लालच देकर, वह अपने गीत उनसे गवाया करता है। कवियों के साथ भी यही वात है। कवि लोग अन्न-जल पर थोड़े ही जीते हैं? ये तो प्रशंसा के पादप हैं। मिलती रहेगी तो खिलते रहेंगे, नहीं तो कुम्हलाते क्या देर लगती है। इसीलिए उस दिन रेल में जव मुझे मेरी रचनाओं के एक प्रशंसक अनायास ही मिल गए तो खुशी का ठिकाना न रहा।

हम लोग उस दिन गाजियावाद से दिल्ली लौट रहे थे। गाड़ी में जो साहित्य-चर्चा चली तो वात-वात में एक महोदय मेरा नाम जान गए। वह स्वयं मेरे पास खिसक आए। कहने लगे: "धन्य भाग! वर्षों

से आपका नाम पढ़ते-सुनते थे। बड़ी तमन्ना थी आपके दर्शनों की। क्या कमाल का लिखते हैं आप ? आपकी रचनाओं को तो हमने अखबारों से काट-काटकर एक रजिस्टर में चिपका रखा है। आपकी पुस्तकों के सभी संस्करण हमारे पास हैं। मेरी पत्नी तो आपकी रचनाओं के पीछे समझिए, जैसे पागल है। और-तो-और, मेरी छोटी मुन्नी को भी आपकी कई कविताएँ कंठस्थ हैं।"

शब्द क्या थे, मानो बूंद-बूंद से अमृत झर रहा था। यात्रा की सारी थकान, डिब्बे की ठेल-पेल और साहित्य-चर्चा से उत्पन्न उमस जैसे सब कुछ शीतल, तरल और क्या कहूँ रसमय हो चला। मेरी मन की बन्द कली जैसे खट करके खिल उठी।

बगल में बैठे अपने मित्रों की ओर मैंने जरा तनकर देखा और महसूस किया कि उन पर ही नहीं, इन अनजान मित्र की बातों का असर सारे डिब्बे पर बड़ा अनुकूल पड़ा है। कुछ ही सैकिंड में मैं उस डिब्बे का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन गया।

अपनी प्रशंसा सुनकर क्योंकि सज्जन पुरुष संकोच करने लगते हैं, मैंने भी वही किया। मैं विनयी हो आया। कहने लगा : "जी, मैं क्या हूँ ? यों ही कुछ लिख-विख लेता हूँ। आप जैसे गुणीजनों को कुछ पसन्द आजाय, मेरे लिए यही बहुत बड़ी बात है।"

"विनय बहुत बड़ी बात है। विनय बड़ों को ही शोभा देती है।" अनजान मित्र कहने लगे—"ज्ञानी ही सहनशील होते हैं। शिष्टता ओछों के बाँटे नहीं आती। ओछे बर्तन में तो पानी छलकता है। मैं हिन्दुस्तान के अनेक साहित्यकारों और कलाविदों से मिला हूँ। मुँह देखी नहीं कहता, राम-राम उनमें यह बात कहाँ ? आपको तो देखकर ही ऐसा लगता है जैसे अपने परिवार के ही आदमी हैं।" कहते-कहते उन्होंने सिगरेट का पैकिट मेरी ओर बढ़ाया।

मैंने और भी विनम्र होकर हाथ जोड़ लिए। तो वह कहने लगे—"अरे आप सिगरेट भी नहीं पीते ? तब और क्या पीते होंगे ? लेकिन इतना मादक, इतना सरस, चीजें आप लिखते कैसे हैं ? सच कहता हूँ कि

मैं तो जब आपकी रचनाएँ पढ़ने लगता हूँ तो सुधबुध खो बैठता हूँ। अहा ! अभी परसों के साप्ताहिक में आपकी वह भ्रमर और कली वाली रचना पढ़ी थी ! क्या कहने हैं ? दिल बाग-बाग होगया !

बातों का यह सिलसिला अभी और लम्बा चलता, मगर गाड़ी शाहदरा स्टेशन पार कर यमुना के पुल पर आगई थी। दिल्ली जंक्शन आने ही वाला था।

बातों-बातों में ज्ञात हुआ कि मेरे मेहरबान दोस्त कलकत्ते में अपना कोई बड़ा व्यापार चलाते हैं। दो दिन के लिए किसी काम से राजधानी आए हैं। वह जिस होटल में ठहरने वाले थे उन्होंने उसका पता भी बताया और आग्रह किया कि मैं उनके यहाँ कम-से-कम एक बार चाय पीकर तो उन्हें अवश्य ही कृतार्थ करूँ।

दिल्ली में बसे १२ वर्ष से ऊपर होगए। लेकिन अभी भी दिल्ली मुझसे कुछ दूर ही बनी हुई है। पुरखे कह गए हैं कि दिल्ली में आदमी को जरा सोच-समझकर चलना चाहिए। यहाँ लोगों से व्यवहार करते समय उन्हें बीस बार परखना चाहिए। इसीलिए कोई लाख कहे, मैं किसीको अपना घर नहीं दिखाता। मित्र लोग मेरी इस आदत से भली-भाँति परिचित हैं। लेकिन कुछ अपनी आदत, कुछ पत्नी के अद्वैत स्वभाव और कुछ अल्प बचत योजना का असर कि मित्रों के उलाहने और अमित्रों के ताने कभी मुझपर असर नहीं करते।

लेकिन इस बार की बात दूसरी थी, क्योंकि श्रीमतीजी मैके पधारी हुई थीं और अभी महीने की सिर्फ तीसरी ही तारीख थी। आपसे क्या छिपाऊँ, सबसे बड़ी बात यह कि उन गुणग्राहक मित्र की बातों से अभी मेरी पूरी तसल्ली भी नहीं हुई थी। परिणाम यह कि एक कदम गलत उठ गया। वैसे ऐसे मामलों में मैं उचित-अनुचित का जरा कम ही खयाल रखता हूँ। लेकिन उस बार न जाने क्या हुआ कि उनके मुख से अपनी शराफत का गुणगान सुनकर मुझे यह उचित नहीं लगा कि अपने शहर में आए हुए एक दुर्लभ पारखी को अपने घर न बुलाकर खुद उनके किराए के होटल में चलकर चाय पीने की धृष्ठता की जाय।

अगर मैं जल्दी में न होता, या मुझे एक बार भी अपनी बात पर फिर से विचार करने का अवसर मिल जाता तो मैं कदापि वैसा नहीं करता। लेकिन गाड़ी स्टेशन पर ठहर गई थी और लोगों के चढ़ने-उतरने की रेल-पेल फिर से शुरू होगई थी। इस हड़बड़ी में मैं फंस गया। और क्या बताऊँ, जो अब तक कभी न किया था, वह कर ही डाला। यानी मैंने उन महाशय को अपने घर का पता बता दिया। बड़े तपाक से मैंने कहा : "भला, यह भी कोई बात हुई ? आप हमारे शहर में आएँ; और उलटे हम आपके मेहमान बनें। लाख दिल्ली अब पुरानी नहीं रही, लेकिन ऐसा भी क्या हुआ ? आपको मेरा घर पवित्र करना ही पड़ेगा।"

थोड़े शिष्टाचार के बाद उन्होंने मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन मैंने उनके स्वागत की तैयारी की। पत्नी थी नहीं। नौकर घर में हम लोग खुद ही होते हैं। इसलिए, उस दिन मैं सुबह तड़के ही उठ बैठा। सारा घर साफ करके आइने के माफिक चमका दिया। चीजों को करीनों में जमाया। बाजार से कुछ नमकीन कुछ मीठा, कुछ फल लाकर रख छोड़े। कुछ पुड़िया पानों की भी पहले से ही ले छोड़ीं। पास के होटल वाले से कह आया कि ठीक ४ बजे किसी को भेजकर चाय के लिए पुछवा ले।

मित्र घड़ी के टाइम पर टैक्सी से उतरे। टैक्सी का बिल चुकाने लगा तो उन्होंने हाथ पकड़ लिया। घर में घुसते ही उन्होंने बच्चों के बारे में पूछा। यह बताने पर कि वे सब तो अपने ननिहाल गए हैं, एक सदगृहस्थ की भाँति उन्हें बड़ी निराशा हुई।

सूने घर में हम लोग मेजों पर पैर फैलाकर जम गए। हमें डर भी किसका था ? न घर में पत्नी का, न बाहर सरकार का। हमने दालमोंठ से लेकर अणुबम तक पर विशेषज्ञों की भाँति चर्चा की। छात्रों की अनुशासनहीनता से लेकर स्वेज-समस्या तक हमारी तीखी नजर दौड़ गई। हमने दुनिया के सभी बुद्धिमानों को उस समय लगभग बुद्धू ही सिद्ध कर दिया।

हमारी बातचीत प्रायः साहित्य के आस-पास घूमती रही। शायद

ही संसार का कोई कवि, लेखक या उपन्यासकार ऐसा बचा हो, जिसके गुण-दोषों का हमने उस दिन पर्दाफाश न कर डाला हो।

मेरे मित्र की जानकारी अद्भुत थी। वह हर साहित्यिक की पुस्तकों के बारे में ही नहीं, उनकी आदतों, पसंदों और कपड़ों के बारे में भी पक्का पता रखते थे। किसकी किससे बनती है, किसकी किससे चलती है, किसने किसका कहाँ क्या चुराया है, कौन कहाँ क्या तिकड़म कर रहा है, इस सबका उन्हें सही-सही पता था। बीच-बीच में रामायण के सम्पुट-पाठ की तरह वह प्रसंग और अवसर निकालकर मेरी रचनाओं की, मेरे स्वभाव और मीठे व्यवहार की भी लगे-हाथों तारीफ करते चलते थे।

मिठाई की मिठास उस दिन कैसी थी क्या बताऊँ ? जब-जब वह महाशय मेरा गुणगान करते तब-तब मेरा नमकीन चीजों की सार्थकता पर विश्वास जमता जाता। फल सफल होरहे थे। चाय आरही थी और न जाने कहाँ समाई जारही थी ? मुझे लगा कि ये ७ घंटे जैसे ७ मिनटों में ही समाप्त होगए। समय की क्रूरता का मैंने उस दिन सही-सही अनुमान किया। उस दिन मैंने जाना कि प्रियकथन श्रवण के लिए किस प्रकार दो कान ही काफी नहीं हैं।

काफी दूर तक मैं उन्हें छोड़ने गया। लौटा तो लगा कि मेरा मन भी कहीं बाहर ही छूट गया है। रात को बड़ी देर तक नींद नहीं आई। तुलसीदास की यह चौपाई उस दिन मुझे कई बार याद आई :

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं संता॥

पड़ा-पड़ा मैं यही सोचता रहा कि इसी प्रकार कोई सहृदय समालोचक मिल जाय तो मुझे व्यास, कालीदास, मिल्टन, शैक्सपीयर बनते अब देर नहीं लगती। सोते-सोते मुझे यह विश्वास भी होगया कि लोग लाख ईर्ष्या करें मेरी कला को, साधना को, समझने वाले अब पैदा होने लगे हैं। मेरे महान बनने में अब देर नहीं।

दूसरे दिन काफी देर गए मेरी आँख खुली। रात की प्रशंसा का खुमार

अभी पूरा-पूरा नहीं उतरा था। मैंने आइने में गौर से झाँककर बाल जरा सीधे किए। कमीज डालकर बाहर चाय पीने निकला तो याद आया, जेब खाली है। सोचा कुछ पैसे लेता चलूं। कल की चाय का बिल भी चुकाना है।

लेकिन मेज की दराज खोली, तो सन्न रह गया! वह अस्त-व्यस्त पड़ी थी। मनीवैग गायब था। दौड़कर दरवाजे पर गया तो देखा ताला कुंजी सब अन्दर से ठीक तरह बन्द थे। जीना-खिड़की सब सही-सलामत थे। रात को तो सोने के बाद कोई आया नहीं। तब बटुआ क्या हुआ?

मेरी आँखों के सामने से प्रशंसा का परदा खर्र से खिसक गया! एक-एक करके मुझे कल शाम की सारी घटनाएँ याद आने लगीं। प्रशंसा मुझे काफी महंगी पड़ी थी। मेरे मेहरबान मित्र महीने-भर का पूरा वेतन अपनी प्रशंसाओं के पारिश्रमिक में वसूल कर लेगए थे।

भला ऐसे चतुर कहीं होटलों का पक्का पता बता देते हैं।

चाय के जूठे बर्तन, चारों तरफ फैले सिगरेटों के टुकड़े, फलों के छिलके, जूठी तश्तरियाँ मानो सब विद्रूप से मुँह बिचकाकर मुझसे पूछ रहे थे—"कहिए महाशय, महाकवि बनने में अब कितनी देर है?"

●
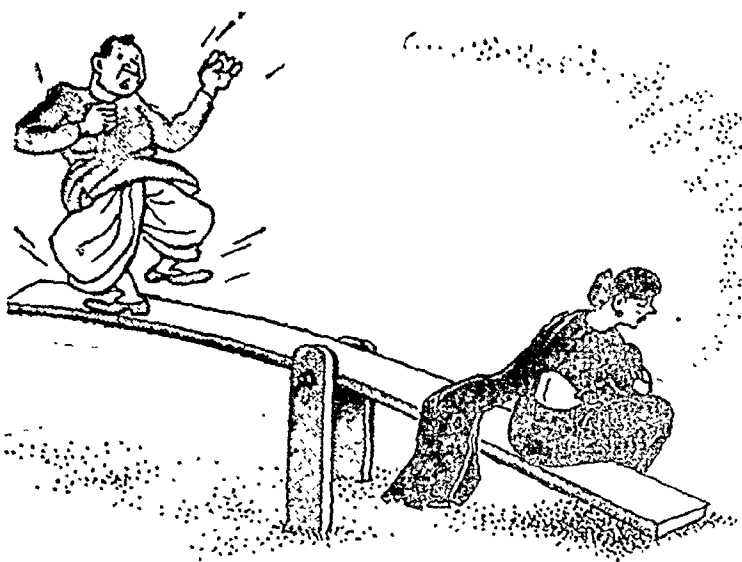
५

मैं क्या चाहता हूँ ?

न मैं कहीं का राज चाहता हूँ न किसीकी जमींदारी। क्योंकि इन दोनों ही चीजों पर आज के समाजवादी लोग मुझे नहीं रहने देंगे। न मैं सेठ बनना चाहता हूँ, न रवीन्द्रनाथ। क्योंकि आज के साम्यवादी इन दोनों को ही प्रतिक्रियावादी कहकर पुकारते हैं। न मैं 'लीडर' बनना चाहता हूँ, न 'मिनिस्टर', क्योंकि प्रजातन्त्र के इस युग में दोनों की ही कुर्सियाँ डगमग हैं।

शायद आप मुझे पारलौकिक व्यक्ति मानलें और समझें कि जीते-जी मेरी कोई इच्छा नहीं है, और मैं सिर्फ मर कर ही स्वर्ग प्राप्त करना चाहता हूँ, तो यह आपकी भारी भूल होगी। न जहाँ चाय हो, न अखबार। न रेडियो हो, न सिनेमा। न रेस हो, न जनता। न नेता हो न हड़ताल। न जहाँ आन्दोलन और न युग-युग से जहाँ कभी क्रान्ति ही हुई हो, उस पुरानी उर्वशी और मेनकाओं वाले स्वर्ग को भला मैं

अपनी नित्य नई नरगिस, सुरैया, कामिनी और मधुवालाओं के मुका-वले क्यों चाहूँगा ?

स्वर्ग नहीं, तो क्या फिर मैं नर्क चाहता हूँ ? जी नहीं, उसके लिए मुझे यह देश और देह छोड़ने की आवश्यकता नहीं।

जी, मैं तो अपनी, किसी और की नहीं, सिर्फ अपनी पत्नी पर काबू पाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी पत्नी, सिर्फ मेरी ही हो।

आप कहेंगे यह क्या वात हुई ? अपनी पत्नी तो अपनी होती ही है। इसमें परेशानी क्या है ?

जी, तो फिर आप मेरा मतलव नहीं समझे। अजी, वह मेरी ही हों। यानी न वह किसीकी मा हों, न किसीकी वहन और न किसीकी वेटी। न उन्हें मायके की सुधि आए, न सहेलियों की। उनके समय का, उनकी सामर्थ्य का, उनके स्नेह का एक-एक कण मेरे लिए, सिर्फ मेरे ही लिए, 'रिजर्व' रहे। वह मेरी आँखों से देखें, मेरे कानों से सुनें, मेरे इशारों पर चलें और जिस तरह वाहर की दुनिया में वह अपने पुराने नाम का चोला उतारकर सिर्फ श्रीमती व्यास भर रह गई हैं, इसी तरह घर की दुनिया में भी वह मेरे चारों ओर ही घूमती रहें।

लेकिन कम-वढ़ कोई वीस साल होने आए, यकीन मानिए, जहाँ से शुरू किया था आज भी मैं ठीक वहीं पर हूँ। उन्हें अपने ववुए के मोजों का अधिक खयाल है, उसके वाप की टोपी का नहीं। उन्हें अपने भाई के सूट की ज्यादा फिकर है, उसके वहनोई के कमीज के वटनों की नहीं। मुन्ने राजा अगर सोते-सोते करवट भी वदल लें तो उनकी नींद हराम होजाती है, मगर मुन्ने के वावूजी को अगर पूरी रात भी नींद न आए तो उनकी अखंड-निद्रा भंग नहीं होती। सौभाग्य से यदि उनके भाई साहव घर में तशरीफ ले आएँ तो समझ लिया जाता है कि हम घर में हैं ही नहीं। वस, विना वेतन के हमें उस दिन जवाव मिल जाता है। हमने नहाया है, खाया है, सोते हैं, जागते हैं, घर में हैं, वाहर हैं किसी वात से उनका कोई सरोकार नहीं। लेकिन अगर दुर्भाग्य से हमारे भाई साहव हमारे घर में तशरीफ ले आएँ तो उन्हें वार-वार मेरी याद

सताती है, घी की कनस्तरी उसी वक्त खाली होती है, सब्जी लाने का काम उस दिन खास तौर से हमारा ही होता है और सबसे ऊपर यह कि उस दिन ट्रंक की ताली भी एकाएक न जाने कहाँ खो जाती है।

अपनी सहेलियों के आगे वह हमसे खास इज्जत से पेश न आएँ, तो चलो न सही। लेकिन हमारे दोस्तों के आगे तो कभी-कभी हमारी कद्र कर लिया करें, इतना तक उनसे नहीं हो पाता। छोड़िए इसे भी। मैं तो दफ्तर में सिर्फ आठ घंटे की उनकी जुदाई को दिन में कम-से-कम दो बार टेलीफोन करके, राम-राम कहकर, न जाने किस तरह काटता हूँ, मगर एक वह हैं कि मानो हमारी उनकी कोई मुलाकात ही न रही हो।

और जी, यह किस्सा कोई एक दिन का तो है नहीं। यह तो रोज-रोज, आठ पहर चौंसठ घड़ी का अटूट कार्यक्रम है। मैं पूरब तो वह पश्चिम। मैं उत्तर तो वह दक्षिण। मैं अमरीका तो वह रूस। मैं ट्रूमैन तो वह स्तालिन। मेरी ना तो उनकी हाँ। मेरी हाँ तो उनकी ना। अंधेरे मुँह विस्तर से उठते ही यह सिलसिला शुरू होजाता है।

उदाहरण के लिए मैं चाय सवेरे बिस्तर पर ही पीना चाहता हूँ। लेकिन वह कहती हैं: "नहीं, चाय हाथ-मुँह धोने के बाद ही दी जाएगी।"

मैं उठते ही अखबार पढ़ा करता हूँ। मगर वह कहती हैं: "सवेरे-सवेरे नहीं। गायत्री नहीं, भजन नहीं, पूजा नहीं। लेंगे और मरे-गिरों की खबरें लेकर बैठ जाएँगे।"

मैं 'शेव' नाई से बनवाना चाहता हूँ। मगर उनका कहना है: "यह 'शेविंग' का सामान आखिर किसलिए है ?"

मैं कहता हूँ कि "कपड़े लांड्री में धुलने चाहिएँ।" वह कहती हैं: "नहीं, घर का धोबी उससे लाख अच्छे धोकर लाता है।"

मैं कहता हूँ कि "रोज-रोज मूंग की दाल मत बनाया करो।" वह कहती हैं: "तुम क्या जानो कि मूंग की दाल कितनी पाचक और पोषक होती है।"

मैं दफ्तर साइकिल से जाना चाहता हूँ। मगर वह कहती हैं, "नहीं, ये सवारी आदमी को जल्दी बूढ़ा बनाती है।"

मैं कहता हूँ कि दफ्तर के लिए मुझे कुछ नहीं चाहिए। वहाँ सब कुछ मिल जाता है। मगर वह कहती हैं, "नहीं, यह टिफन कैरियर लटकाकर ही ले जाओ।"

शाम को मैं कहता हूँ कि चलो कहीं घूमा जाए। मगर वह कहती हैं: "नहीं, अभी चाय का पानी रखती हूँ। यहीं बैठकर गप्प लड़ाएँगे।"

मैं कहता हूँ कि आज तो थक गया। लाओ चाय ले आओ और यह रेडियो तो जरा खोल दो। मगर वह कहती हैं: "नहीं, यह कोई घर में बैठने का मौसम है। चलो, बैठे-ठाले हनुमानजी के ही दर्शन कर आएँ।"

मैं कहता हूँ कि आज तो मन नहीं लगता। लाना, वह जो तुम नया उपन्यास लाई थीं, जरा उठा देना। मगर वह कहती हैं: "नहीं, मन नहीं लगता तो बबुए को लेकर जरा बाजार टहल आओ। दिन भर काम करने के बाद इस उपन्यास में क्यों सिर खपाते हो?"

कोई एक बात हो तो कहूँ। बीसियों बार कह चुका हूँ कि देखो, मुझे तुम्हारी यह सुर्ख साड़ी निहायत नापसन्द है। मगर वे हैं कि जब कभी कहीं मेरे साथ चलेंगी तो अदबदा के उसी साड़ी को लपेट लेंगी।

और लीजिए। मुझे अगर नर्गिस पसन्द है तो उन्हें जानीवाकर। मैं रवीन्द्रनाथ के गुण गाता हूँ तो वह शरद् के। मैं प्रेमचन्द को महत्त्व देता हूँ तो वह प्रसाद को। मेरी भक्ति मीरा में है तो उनकी बिहारी में। रेडियो को ही लीजिए जब मैं 'अपनी पसन्द' के रिकार्ड सुनना चाहता हूँ तो उनका आग्रह जटिल वार्ताओं के लिए होता है। लेकिन जब मैं वार्ताएँ सुनना चाहता हूँ तो, वह तुनककर सुई अंग्रेजी धुनों पर घुमा देती हैं।

समस्या यह नहीं है कि वह मुझसे भिन्न सोचती हैं, चाहती हैं या कहती हैं। मुश्किल यह है कि मैं चाहता हूँ कि अपनी रुचि अपने

निर्णयों और अपने तरीकों पर कायम रहूँ। मगर उन्होंने कुछ ऐसा कर दिया है कि मेरे सारे निर्णय अचार के घड़े की तरह रखे ही रह जाते हैं। कभी रस से, कभी रिस से, कभी हँसकर, कभी कसकर वह मुझे ऐसे टालती हैं कि "जाओ, जाओ जी, अपना काम देखो।"

मेरी सारी योग्यता उनके सामने अयोग्यता में परिणत होजाती हैं। मैं शासन करने जाता हूँ और शासित होकर लौटता हूँ। मेरे तन, मन और धन पर उन्होंने इस मजबूती से कब्जा किया है कि उसकी फरियाद किसी भी राष्ट्रसंघ में नहीं हो सकती। न वहाँ किसी असहयोग की गुंजाइश है, न सत्याग्रह की। उस अदमनीय के सामने दमन का प्रश्न तो उठता ही नहीं।

अब आप ही बताइए, मैं क्या तो करूँ और क्या न करूँ ? क्या चाहूँ और क्या न चाहूँ ? क्योंकि प्रश्न चाह का नहीं उसके मिलने का है। कहते हैं १२ वर्ष में एक युग बदल जाता है और कोशिश करने पर पत्थर भी पसीज जाया करते हैं। लेकिन मुझे तो कोशिश करते-करते पूरे १॥। युग बीत गए, मगर यह संगमरमर जैसी हँसती-मुस्कराती प्रतिमा आज तक नहीं पसीजी। हारकर मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि बीसवीं शताब्दी के पतियों के शब्दकोष से इस चाहत नाम के शब्द को ही निकाल देना चाहिए। कलियुग में चाहत पतियों के लिए नहीं, पत्नियों के ही लिए रह गई है। पतियों का तो सिर्फ एक ही पुनीत कर्तव्य रह गया है कि अपनी चाहों का स्वेच्छापूर्वक शमन करें, और अपनी महान पत्नियों की इच्छाओं को जी-जान से पूरा करते रहें। इसी में हमारा कल्याण है, इसीमें हमारे पति समाज की भलाई है।

यह न कहूँ तो बताइए और क्या कहूँ ? किसी भी योग से, किसी भी यत्न से, किसी भी पीर से, किसी भी फकीर से, देवीजी मढ़ में आने का नाम ही नहीं लेतीं।

हाँ, भगवान सुने तो अब एक ही रास्ता है। वह यह कि इस जन्म में तो अब क्या सम्भव होगा, अगले जन्म में ही सही, मेरी पत्नी को मेरा लायक पति बनने का सौभाग्य प्राप्त हो, और तब मैं उनकी

पत्नी बनकर इस जन्म का थोड़ा-सा बदला उनके अगले जन्म में चुका सकूं।

उनसे कहूँ, "देखोजी, मुझे यह चाहिए, वह चाहिए।"

मटककर बोलूं : "मैंने कहा, मुझे यह पसन्द नहीं।"

अगर देर से घर लौटें तो बरस पड़ूं, "मैया री, मेरी तो तकदीर ही फूट गई।"

मनाने लगें तो सुबकने लगूं : "नहीं, अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी, मुझे मेरी मा के पास पहुँचा दो।"

चरणों में गिर पड़ें तो पैरों को सिकोड़ लूं।

कान पकड़कर तोबा करें तो सामने जरा मुस्करा दूं।

हाथ जोड़कर जब वह रिरियाने लगें कि अच्छा बाबा, अब तो माफ करो, तो अदा से कहूँ, "खैर, इस बार तो माफ किया। उठो, चाय बना लाओ।"

और तब मेरी पत्नी समझे कि पति बेचारे के सीने में भी दिल होता है, दिल में कभी-कभी धड़कन भी होती है, और वह धड़कन भी कभी-कभी कुछ चाह लिया करती है।

६
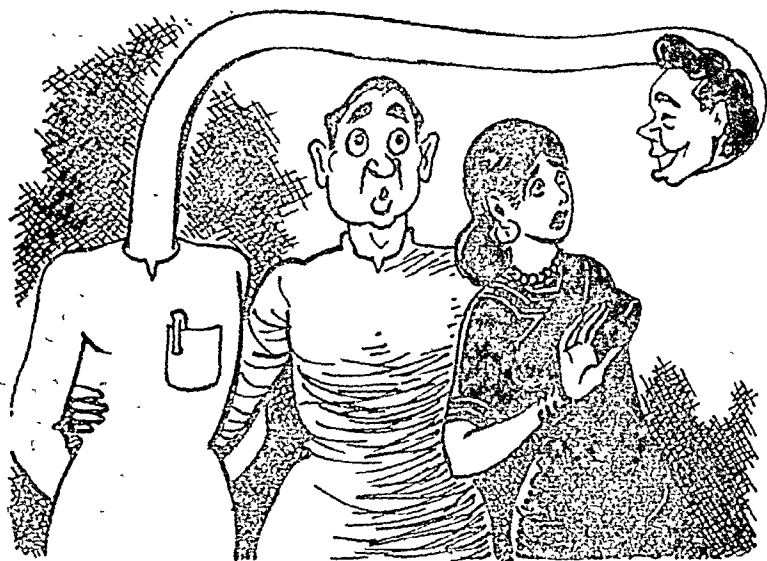
कवियों से भगवान बचाए

स्वयं मैं भी कवि हूँ, इस बात को थोड़ी देर के लिए भूल जाइए। अगर नहीं भूल पाते तो कम-से-कम एक प्रार्थना अवश्य मान लीजिए। वह यह कि यदि मैं कवि हूँ भी तो आठ पहर चौंसठ घड़ी वाला नहीं।

मुझे और भी बहुत से काम हैं। मेरे और भी कई महकमे हैं। दिन चढ़े शय्या छोड़ते-छोड़ते मैं आलसी पति होता हूँ। बाद में कुछ देर के लिए मुझे पहलवान पाइएगा। नहाने के बाद तो पूरा पंडित ही होजाता हूँ।

दफ्तर में मैं १६ आने, नहीं-नहीं पूरे १०० पैसे किरानी बाबू हूँ। वहाँ से लौटने पर बच्चों का पिता हूँ। मालदार जैसे मैं पहली से तीसरी तारीख तक ही रह पाता हूँ, उसी तरह कवि भी मैं वेतन बिलकुल बीत जाने पर यानी २१ से ३०-३१ तक ही होता हूँ। बाकी ३ सप्ताह शायरी के लिए मैं 'मूड' बना ही नहीं पाता।

लेकिन कुछ लोग साहब, कमाल के होते हैं ! वे महीने के तीसों दिन, चारों सप्ताह, चौबीसों घंटे, यानी आठ पहर चौंसठ घड़ी केवल कवि ही होते हैं। सुबह उठते हैं तो काफिया जोड़ते हुए, नहाते हैं तो तुकें तोड़ते हुए, खाते हैं तो मात्रा गिनते हुए, सोते हैं तो प्रेयसियों के सपने देखते हुए और जागते हैं तो कल्पनाओं में दूर, बहुत दूर भागते हुए।

सैर हो, सिनेमा हो, सभा हो, सम्मेलन हो, घर हो, बाहर हो, वे हर वक्त आपको खोए हुए से मिलेंगे।

कहीं शादी हो, जशन हो, या तो आपको ये दिखेंगे ही नहीं; दिखेंगे भी तो ऐसे, जैसे रोए हुए से हों। कपड़ों पर तीन बज रहे हों, तो शक्ल पर बारह !

कहीं कोई बीमार हो, कोई अपनी हालत से बेजार हो, किसीका घर उजड़ गया हो, कोई कहीं मर गया हो—ये वहां फटकेंगे भी नहीं। अगर गए भी तो ऐसे, लगेंगे कि मानो सुख में समोए हुए हों, रस में भिगोए हुए हों।

पूरब की कहो, ये पश्चिम को जाने लगेंगे। उत्तर को भेजो, दक्षिण की गाने लगेंगे। ध्रुपद की कहो कहरवा बजाने लगेंगे। तिल को ताड़ और राई को पर्वत तो और भी बहुत-से बुद्धिभोजी बना देते हैं, मगर इनसे कहा जाय और इनकी भी समझ में, यानी मूड में आजाय तो ये बातों-ही-बातों में ताड़ को तिल और पर्वत बेचारे को राई करके दिखा सकते हैं। मनुष्य को बन्दर इन्होंने बनाया। बन्दर को देवता इन्होंने बनाया। देवता को जलील इन्होंने किया। जलीलों की भी वकीलों की तरह मदद करने वाले यही हैं।

एक बार मैं इनके चक्कर में फँस गया। मैं क्या फँस गया किस्सा कुछ और ही है :

एक परिचित कवि एक दिन मेरे पास आए। कहने लगे—"मित्र, एक काम तो कर दो !"

"हुक्म कीजिए," मैंने पूछा।

बोले, "काम कोई खास नहीं। यही, बंबई एक सम्मेलन में जाना है। वहाँ तुम्हारे एक मित्र हैं। क्या नाम उनका ? यही......मोलक! हाँ-हाँ, अमोलकजी। उन्हें एक पत्र तो लिख दो।"

भला,यह भी कोई बड़ी बात थी। मैंने अमोलक भाई को बंबई पत्र लिख दिया कि कवि अमुकजी आरहे हैं। देखना,कोई तकलीफ न हो।

कविजी चले गए। बात आई-गई हुई। लेकिन आज अभी सवेरे जब मैं दफ्तर जारहा था तो डाक से बंबई की मुहर का एक लिफाफा मिला। पढ़ा तो सन्न रह गया! पत्र की किस बात को आपसे छिपाऊँ और किसको उजागर करूँ? अधूरी बात से आपको तसल्ली भी तो नहीं होगी। पूरा पत्र ही आपके सामने रख देता हूँ :

बंबई
१ अप्रैल, १९५७

भाई व्यासजी,

अच्छे आदमी को भेजा तुमने ? क्या सारे कवि ऐसे ही होते हैं! तुम्हारे उन कवि ने तो कमाल ही कर दिया। कैसे उत्साह से हम लोग उनके स्वागत के लिए स्टेशन गए और किस ललक से हमने कवि-सम्मेलन के आयोजकों से कह छोड़ा कि कवि अमुकजी मेरे मित्र के मित्र हैं और हमारा ही घर पवित्र करेंगे। हम लोग यानी मैं और तुम्हारी भाभी रेखा उन्हें स्टेशन लेने गए। फर्स्ट से लेकर थर्ड तक सारे डब्बे छान मारे। आखिर में मिले तो कहाँ, गेट पर टिकट चैकर के पास। मालूम हुआ उनका टिकट कहीं रास्ते में ही खोगया था। चैकर को चुकाने के लिए उस समय पूरे पैसे भी उनके पास नहीं थे। खैर, वह तो ऐसी कोई बात नहीं थी। हम लोग थे ही, झगड़ा चुकाकर उन्हें राजी-खुशी घर ले आए।

पूछा,"सामान कहाँ है?" तो अटैची बताकर कहने लगे—"अजी, अपनी आवश्यकताओं की दुनिया बहुत थोड़ी है। फिर जब घर में आए हैं, तो सामान की क्या जरूरत!"

सचमुच वह घर में ऐसे आए कि हम अपने ही घर में बिराने बन

गए। सम्मेलन, तो जिस दिन वह आए उसी रात समाप्त होगया, लेकिन तुम्हारे कविजी, वंबई में ऐसे रमे कि शासन में जमे भ्रष्टाचार की तरह जाने का नाम ही नहीं लेते थे। पूरे १५ दिनों तक उन्होंने हमें कृतार्थ किया। अगर वह घटना न घटी होती तो आगे भी वह आसानी से यहाँ से टलने वाले नहीं थे।

आदमी वहुत देखे, मगर भाई, इन तुम्हारे कविजी जैसा एक भी नहीं देखा। जागने का समय होता तो सोता, सोने का होता तो जागता। नहाने का समय होता तो खाता, खाने का होता तो नहाता। हम कहते सैर को चलें; तो वह कहता 'मूड' नहीं है। मगर रात को ११ वजे वोलता—आओ, जरा घूम आएँ। कभी हजरत के कपड़े इतने गंदे होते कि देखनेवालों को लाज आती। मगर कभी इतनी नफासत वरतता कि धोती और कुरते की एक-एक चुन्नट गिन लीजिए।

खाने-पीने का यह हाल कि हम कभी जान ही नहीं पाए कि इसे क्या तो पसन्द है, और क्या नहीं। कभी दाल-शाक में इतनी मिर्चं माँगता कि चरपराहट का ध्यान करके ही हम लोगों की आँखों में आँसू आ जाते और कभी उसे मिर्चों से इतनी नफरत होती और मीठे पर इस कदर टूटता कि चावल में चीनी, दाल में चीनी, शाक में चीनी तो डालता ही, उस दिन उसकी यह भी फरमाइश होती कि आज अगर चीनी की पूरियाँ भी उतार लीजाएँ तो कैसा रहे? कभी ताजी-से-ताजी और स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट चीजें परसी हुई छोड़ जाता, मगर कभी दिन निकलते ही पुकारता—भाभीजी, अगर रात के परांठे और जरा आम का अचार हो तो देजाइए।

तुम्हारे कवि के दिमाग में न जाने क्या भरा था कि जव देखो तव गुनगुनाता ही रहता था। हम लोग कभी भी यह न समझ पाए कि उसकी वुदवुदाहट गद्य है या पद्य? सरल है या शास्त्रीय? ता ना री री है या रा रा रा रा? अजव उसकी आदत थी! घंटों सड़कों की धूल फांकता था, खिड़कियों पर झांकता था, आसमान को ताकता था।

हाल ही उसका अनोखा था। उससे कहते—कुछ सुनाइए, तो

साफ मुकर जाता। लेकिन जब खुद को कहास लगती तो 'बोर' कर देता। एक दिन मैंने कहा—"अमुकजी, कुछ नया सुनाइए।"

तो कहने लगा, "अजी, इस पुराने दिल से अब क्या नया सुनाएँ।"

मैंने कहा, "अजी, पुरानी कढ़ाही में ही दूध अच्छा खौलता है। सुनाइए न कुछ नया ! ऐसा जो बंबई में ही, इसी कमरे में बैठकर लिखा गया हो।"

तुम्हारी भाभी भी पास ही बैठी थीं। वह मुस्कराया। बोला—"अच्छा तो सुनिए।" उस दिन तुम्हारा कवि तरंग में आगया था। शायद कुछ भांग-भांग पी रखी हो उसने। सुना ही तो बैठा। लेकिन कविता जो सुनी, तो मैं परेशान होगया। गुस्से के मारे काँपने लगा। तुम्हारी भाभी का तो और भी बुरा हाल था। वह आंधी की तरह वहाँ से उठीं, तूफान की तरह उन्होंने पटापट अपने कमरे के किवाड़ दे मारे और भरी बदली की तरह बरस पड़ीं।

तुम जानते हो उस कम्बख्त ने क्या लिखा था ? अरे, उसकी उस नई तुकबन्दी में तुम्हारी भाभी रेखा का ही नखशिख था। वह जैसी सैंडिलें पहनती हैं, जैसे बाल बाँधती हैं, जैसे ब्लाउज उन्हें भाते हैं, जैसी साड़ियाँ उन्हें खिलती हैं, वह जैसे चलती हैं, बोलती हैं, हँसती हैं, मुस्कुराती हैं—वही सब कुछ उसने लिख-मारा था।

लिखते हुए हँसी आती है कि उस कवि ने तुम्हारी भाभी को पद-पद पर प्रेयसि, रूपसि, प्राण कहकर पुकारा था। मेरे मन में तो आया कि गला घोट दूँ कवि के बच्चे का ! मगर तुम्हारा ध्यान आगया, इसलिए समझ लो रहम खागया। मगर रेखा रहम खाने वाली नहीं थी। कहने लगी, "निकालो इस बन्दर को अभी मेरे घर से। नहीं तो झाड़ू मारकर बाहर कर दूंगी कलमुंहे को !"

कविजी ने भी शायद यह उपमा सुनली और बिना नमस्ते किए चुपचाप घर से खिसक गए। मगर यार, तुम भी क्या अहमक हो, सोच-समझकर सिफारिश किया करो न ? आना कभी यहाँ ! रेखा भरी बैठी हैं।

तुम्हारा—
अमोलक
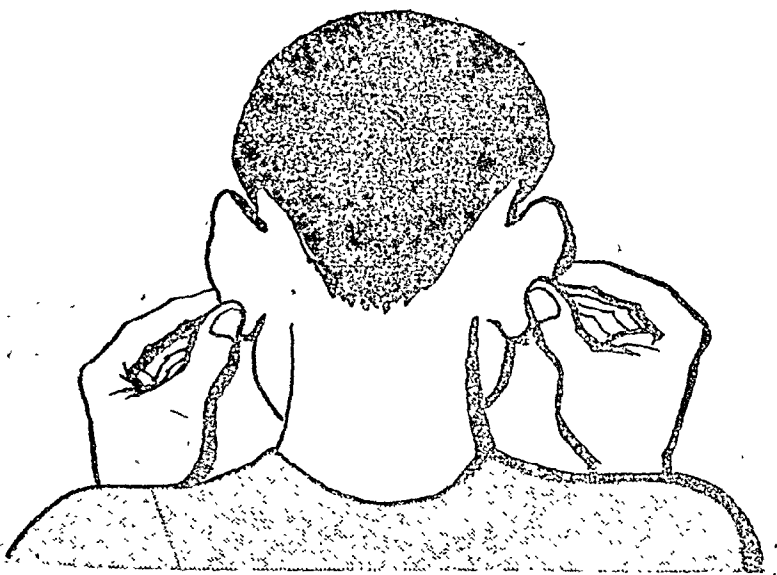
७

मैंने कवि-सम्मेलन किया

तुलसीदासजी विवाह-शादियों को गा-बजाकर काठ में पैर फंसाना कह गए हैं। लेकिन कवि की यह उक्ति विवाह करने वालों पर ही नहीं, कवि-सम्मेलन करने वालों पर भी पूरी तरह घटित होती है। कौड़ी-कौड़ी रुपया जुटाइए, जगह-बे-जगह नकद-उधार वायदों पर सिफारिशों से काम लीजिए, कभी बेहद ऊँचे और कभी-कभी निहायत नीचे दर्जे की चापलूसी से कवियों को इकट्ठा कीजिए, तम्बू तानिए, मंच बनाइए, सभापति के प्रश्न पर सिर खपाइए और अन्त में कवि उखड़ गए तो जनता की लताड़ खाइए और जनता उखड़ गई तो कवियों से वह करारी पछाड़ पाइए कि कान पकड़कर तोबा कर लीजिए कि बाज आए कवि-सम्मेलन करने से।

लेकिन, मैंने क़हा न कि नया नौशा जैसे फूला-फूला फिरता है, और

उसे काठ में पाँव फंसाने का खयाल तक नहीं रहता, वही हाल कवि-सम्मेलनों के संयोजकों का होता है। मैं किसी और की क्या कहूँ? सब कुछ जान-बूझकर भी, पिछले दिनों खुद इस चक्कर में ऐसा फंसा कि उसके परिणामों को आज तक भोग रहा हूँ।

कवि-सम्मेलन क्या किया, घर-बैठे एक मुसीबत मोल ले ली। संयोजन समिति की पहली बैठक से ही खींचतान प्रारंभ होगई! किन-किन कवियों को बुलाया जाए, इस पर सदस्य एकमत होते ही न थे। कोई कहता कि गीत पढ़नेवाले अधिक बुलाए जाएँ, दूसरा सुझाता कि गीत सुनने होंगे तो संगीत-सम्मेलन करेंगे, कवि बुलाइए, कवि! गीतकारों के हिमायती उबलते कि क्या गीतकार कवि नहीं होते? इस पर एक सज्जन ने मुस्कराकर कह ही तो डाला, "गीतकार कवि होते हैं या नहीं, यह तो मैं ठीक से नहीं कह सकता, मगर माफ कीजिए, उनकी शक्ल और कभी-कभी तो अक्ल भी देखकर उन्हें आदमी तो मुश्किल से ही कहा जा सकता है।"

"क्या मतलब?" गीतों के हिमायती बिगड़कर बोले।

उत्तर मिला, "मतलब स्पष्ट है। धंसी हुई आँखें, पिचके हुए गाल, डग-डग काया, लम्बे-लम्बे बाल। शरीर में जान नहीं, मगर इश्क का, प्रेम का, मोहब्बत का दम यूँ भरते हैं कि···।"

एक सुधारक महाशय ने बात काटी, "देखिए महाशय, कवि-सम्मेलन में देवियाँ भी आती हैं। शृंगार रस के नाम पर, गीतों के बहाने अगर कोई खुराफात हुई तो याद रखना पिकेटिंग करवा दूँगा। कवि-सम्मेलन करना है तो वीर रस के कवियों को बुलाइए, जिससे समाज में जोश पैदा हो, बच्चों में वीर भावना जगे।"

एक मनचले सज्जन ने बीच-बिचाव किया, "हाँ हाँ, वीररस वाले भी बुलवाइए। लेकिन देखिए, बिना हास्यरस के कवि-सम्मेलन नहीं जमता। आप 'सीरियस' कम और चटपटे हास्यरस वाले कवि अधिक बुलवाइए।"

इस सुझाव पर एक जवानी में ही बुजुर्ग हुए अध्यापक बिगड़

उठे, "आप लोग भांड़ सम्मेलन करना चाहते हैं या कवि-सम्मेलन ? वीवी पर, साले पर, गधे पर, सलवार पर, औंधी-सीधी तुकें जोड़ लेना कविता नहीं है। कवि सम्मेलन कर रहे हैं, या साहित्य का मजाक उड़ाना चाहते हैं ?"

"तो कवि कौन है ?" प्रश्न उठा।

"कवि वह है जिसका शुक्लजी के इतिहास में नाम हो।" उत्तर मिला–"कवि वह है जिसका नाम कविता कौमुदीमें आया हो, कवि वह है जो भय्याजी या दद्दाजी के दरवार से सर्टिफाइड हो।"

"अगर इनमें से एक भी सनद उसके पास न हो तो वह क्या करे?"

"तो कविता लिखने की वजाय कहीं डूब मरे !" एक महाशय ने यह भी उपाय सुझा दिया।

अगर मुझमें जरा भी समझ होती तो उसी वक्त कान पकड़कर कवि-सम्मेलन को नमस्कार कर देता कि ना वावा, वाज आया इस मोहव्वत से। मगर वहां तो कवियों के साथ-साथ खुद भी वाहवाही लूटने का खयाल दिल में समाया हुआ था। मुसीबतों-पर-मुसीबतें पार करके आगे वढ़ता ही गया।

कवि-सम्मेलन के लिए रुपया कैसे जुटा और कवियों को सम्मेलन में पधारने के लिए क्योंकर राजी किया गया, क्या करेंगे आप वह सब सुनकर ? वड़ी श्रद्धा थी इन सरस्वती के वरद पुत्रों पर मेरी ! मगर इन मसिजीवियों ने अपनी कविता के जो-जो मोल-भाव किए, उनको देखकर मैं दंग रह गया ! सुनता था कि कवियों में व्यवहारवुद्धि नहीं होती, मगर ३०० रुपए से शुरू करके ३० रुपए तक में भी उन्होंने सौदे को हाथ से नहीं जाने दिया। एक कवि ने जो अपना हिसाव भेजा, वह वहुत ही दिलचस्प था। आने-जाने के तीन फर्स्ट क्लास १०० रुपया १२ आना, तीन दिन के हाल्टिंग चार्जेज ७५ रुपया, तीन दिन के काम का हर्जाना ७५ रुपया, कविता पढ़ने का पारिश्रमिक २५१ रुपया यानी कुल ५०१ रुपया १२ आना के विल का पेशगी भुगतान मांगा गया था।

बात रुपए-पैसे तक ही सीमित न थी, एक कवि महाशय ने लिखा था कि अगर अमुक व्यक्ति सभापति बनेंगे तो आऊंगा। दूसरे ने धमकी दी कि अगर अमुक को सभापति बनाओगे तो मैं नहीं आऊंगा। एक सज्जन ऐसे भी निकल आए, जिन्होंने साफ लिख दिया, "अगर मुझे सभापति बनाओ तो आ सकता हूं।"

जैसे-तैसे सभी ग्रहों को सन्तुष्ट किया गया। कवि-सम्मेलन से एक दिन पहले से सम्मेलन की रात तक मेरे साथी रेल-गाड़ियों, मोटरों के अड्डों पर दौड़ते रहे। मेरा हाल यह कि एक कदम पंडाल में तो दूसरा कवियों के निवास पर। तीसरा रेल पर तो चौथा दानदाताओं के घर। लगता था कि मेरी लड़की की शादी होरही है। अगर कहीं कोई बराती रूठ गया तो खैर नहीं।

और इन बरातियों का हाल यह कि आते ही उन्होंने नाई की फरमाइश की और शेव की जगह पर दो-दो महीने के उलझे बाल छंटवाने शुरू कर दिए। धोबी बुलाया और पहनने के ही नहीं, ओढ़ने-बिछाने तक के कपड़े सम्मेलन के हिसाब में 'अर्जेंट' डाल दिए।

किसीने हुक्म दिया, "मैं रूखी रोटी खाऊँगा।"

कोई बोला, "चावल जरूरी है।"

किसीने कहा, "मैं बाजार की कच्ची रसोई नहीं जीमता, शुद्ध घी की तीन पाव पूरियां और कुछ मिठाई बनवा दीजिए।"

एक बोले, "सफर में मेरा हाजमा बिगड़ जाता है। कुछ अंगूर, कुछ सेव, कुछ सन्तरे मंगवा दीजिए।"

एक सींकिया पहलवान लचककर बोले, "संयोजकजी, मुझे मालिश कराने की आदत है। जरा, कोई तगड़ा-सा आदमी बुलवाइए न ?"

दूसरे ने फरमाइश की, "यात्रा में न जाने मेरे गले को क्या हो गया, जरा हलवा बनवा दीजिए। बाहर-भीतर सेंक करना बहुत जरूरी होगया है।"

कवियों के गलों को काबू में करने के लिए मिश्री, इलायची, कुलं-

ान, मुलैठी, पिपरमेंट, पान, चाय और काफी का प्रबन्ध तो मैंने पहले ही काफी कर छोड़ा था। मगर जब डिब्बे-के-डिब्बे इंजेक्शनों, वीसियों छोटी-मोटी पेटेन्ट कीमती गोलियों और टानिकों की मांग होने लगी, तब मेरे होश हिरन होगए।

गरज बावली होती है सब कुछ करना पड़ा।

वक्त आया सम्मेलन का तो असल समस्या पैदा हुई। किससे पहले पढ़वाया जाए ? कौन अन्त में पढ़े ? कौन सभापति हो ? कवियों का क्रम क्या रहे ?

कोई भी अपने आपको छोटा मानने या समझने को तैयार न था। हर कवि बाद में पढ़ना चाहता था और हर एक सभापति-पद के लिए उम्मीदवार था। आग्रह चल रहे थे कि मुझे इसके बाद में पढ़वाइए और मुझे इसके बाद में न पढ़वाइए। मेरा दिमाग चकरा गया। झल्लाकर मैंने शहर के एक नितान्त असाहित्यिक व्यक्ति को सभापति बना डाला, सूची फाड़ दी और जो सामने दिखाई दिया उसी कवि का नाम 'माइक' पर उचक-उचक कर पुकारने लगा। अब जो जम गया उसकी तकदीर और जो उखड़ गया, वह मेरे गले पड़ना था ही—"संयोजक में तमीज नहीं, साहित्य का ज्ञान नहीं, हमारा अपमान करने के लिए हमें यहां बुलाया गया है।"

दिन-भर कवि पेट साफ करते रहे, गला मांजते रहे, मालिश कराते रहे, बनते-सँवरते रहे, मगर जब 'फील्ड' में पहुँचे तो कोई पहली ही गेंद पर उड़ गया, कोई टिप-टिप चार कदम चला, किसीको मंच पर बैठे कवियों ने ही 'लपक' लिया, तो किसी के विकिट जनता ने उखाड़ फेंके। मतलब कि बड़े-बड़े तीरन्दाज चारों खाने चित्त होगए।

इस पर भी उनके नखरों में, अन्दाज में, कहीं कोई कमी न थी। सम्मेलन समाप्त होते ही उन्होंने मुझे यों घेर लिया मानो मैं कोई भयंकर अपराध करके भागने वाला हूँ। सभी कवियों की गाड़ी उसी वक्त छूटनेवाली थी। मतलब सबकी हुंडी का उसी वक्त भुगतान कर देना जरूरी था। कोई मेरा बेग झटक रहा था तो कोई कुरता। एक

महाशय ने तो पाकिट से पेन ही निकाल लिया।

एक मुसीबत हो तो बयान करूँ। कवियों को विदा करके जो तीसरे दिन सवेरे घर लौटा तो मेरे लिए यह अनुमान करना कठिन होगया कि मेरी देह और श्रीमतीजी के रुख में से कौन अधिक गरम है ?

सम्मेलन के बजट की कौन चलाए, घर के अपने बजट में दो महीने के लिए घाटा आगया था। सम्मेलन कमेटी का खयाल था कि संयोजक असफल रहा। बाहर के कवियों से जो थोड़ी-बहुत दुआ-सलाम थी, वह तो खत्म हो ही गई, स्थानीय कवि भी जान के ग्राहक बन गए। जनता का क्या खयाल बँधा, यह मैं सीधा नहीं जान सका, मगर उसके 'सर्टीफाइड' सेवकों का तो आज तक भी यही कहना है कि हो-न-हो मैंने कवि-सम्मेलन फंड में से अवश्य कुछ रुपए अपने लिए बचा लिए होंगे। नहीं तो, इस कठिन-काल में इतनी जी-तोड़ मेहनत बेकार कौन करता है ?
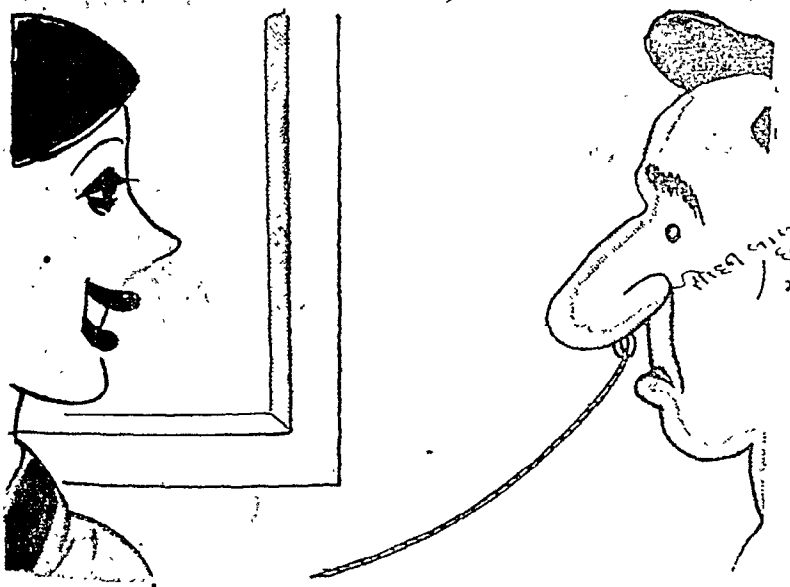
८

पत्नी मिले तो ऐसी

नख ऐसे, मानो नक्षत्र जड़ दिए हों। अँगुलियाँ ऐसी जैसे कुन्द की कलियाँ फूट पड़ी हों। एड़ियाँ क्या, मानो गुलाब के फूल खिले हों। मृणाल जैसी बाँहें। कपोत जैसी ग्रीवा। मूँगे जैसे ओठ। दंत-पंक्ति ऐसी मानो मुँह में मोती जड़े हों। मृगछौने-सी बड़ी-बड़ी भावपूर्ण आँखें। उनके ऊपर धनुष-सी तनी भौंहें। आइने की तरह दिप-दिप करता हुआ ललाट। और, सबके ऊपर नागिन-सी लहराती हुई लटों वाली पत्नी की कल्पना तो मैंने उम्र के १६वें वर्ष में पैर रखते ही कर ली थी।

सोचता था कि पत्नी मिले तो ऐसी कि मानो सचमुच चन्द्रमा से चीरकर निकाली गई हो। जो हँसे तो फूल बरसने लगें। बोले तो कोकिल कूक उठे। देखे तो कमल खिलने लगें। चले तो धरती धन्य हो जाय।

सास समझे कि बहू आई। बहन सोचे कि हाँ, भाभी मिली। देखनेवाले भी देखें कि लो, तकदीर खुली तो हमारी।

खाना न बना सके तो हरज नहीं, मगर चाय 'सर्व' करने में अनुपम हो। घर में देवरानी-जिठानी से भले ही कभी तुनुक उठे, मगर बाहर, सबके सामने,'एटीकेट' बरतने में, मुस्कराने में गजब करती हो। जिसे साड़ियाँ पहनने में कमाल हासिल हो। जिसे ब्लाउज और जम्परों के नये-से-नये कटों की विलक्षण जानकारी हो। जिसे उठने-बैठने के साथ चलने और मचलने का भी सही सलीका आता हो। जो गुस्से में भी खूबसूरत दिखाई पड़े। जिससे नये-नये सिनेमाओं और उपन्यासों पर बहस की जा सकती हो। जिसे जोड़ना चाहे न आए, मगर खर्च करना अवश्य आता हो। जिसका वेश कीमती हो, जिसका देश चाहे ठेठ देहात ही क्यों न हो, मगर उसके केश पेरिस-वालियों को भी ठेस पहुँचाने वाले हों।

सोलहवीं साल के अपने उन मधुर स्वप्नों का वर्णन भी आज सही-सही रसिकता के साथ नहीं किया जा सकता। क्योंकि अब दफ्तर में काम के मारे न दिन में सपने देखे जा सकते हैं, और न रात में श्रीमतीजी की उपस्थिति के कारण करवटें ही बदली जा सकती हैं। फिर झूठ बात कहने से कोई लाभ भी नहीं, और सत्य बात इसलिए नहीं कही जा सकती कि आप ही की तरह अगर श्रीमतीजी ने भी कहीं यह लेख पढ़ लिया तो सारी सिट्ट-पिट्टी गुम हो जायगी।

लेकिन तो भी, अपने अनुभवों के आधार पर आपको कुछ सलाह अवश्य दी जा सकती है। क्योंकि इस बीसवीं शताब्दी में युद्धों और महँगाइयों के कारण दुनिया की सारी चीजों के दाम चढ़ गए हैं, लेकिन सलाह और उपदेश के दाम न केवल जहाँ के तहाँ हैं, बल्कि बिना प्रयत्न के नीचे भी गिर रहे हैं। तो सुनिए, वास्तव में बात यह है कि कोई आदमी कि जिसका अभी पत्नी से वास्ता ही नहीं पड़ा, वह पत्नी कैसी होनी चाहिए, इस बारे में आपको कोई सलाह नहीं दे सकता। कहने का मतलब यह कि हिन्दी के चिरकुमार कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त

या आजन्म विधुर चौबे बनारसीदास दोनों ही इस मामले में निकम्मे हैं। कोई मुझ जैसे भुक्तभोगी ही इस सम्बन्ध में आपको सच्ची राह बता सकते हैं।

उदाहरण के लिए मेरी १६वें साल वाली स्वप्निल कल्पना को अगर आप सलाह मानकर पत्नी ढूँढ़ने निकल पड़ें तो बात नहीं बनेगी। क्योंकि १० वर्ष तक श्रीमतीजी के सक्रिय साहचर्य से जब मैंने गधापच्चीसी पार की तो उनकी जाति के सम्बंध में मेरा विचार और ही था। श्रीमतीजी अब कल्पना का नहीं, यथार्थ का विषय थीं।

तब मैंने ईमानदारी से सोचा कि भाई मेरे, अगर भला चाहते हो तो खूबसूरत लड़की से भूलकर भी विवाह न करो। मियाँ, नखरे उठाते-उठाते मर जाओगे, मगर देवीजी का मिजाज जन्म-भर सीधा नहीं होगा। तभी मुझे श्याम रंग की महत्ता का भान हुआ और मैंने सोचा कि हमारे शास्त्रकारों ने भगवान राम और कृष्ण का रंग किसलिए बहुत सोच-समझकर श्याम कल्पित किया है? गोरों के विरुद्ध कालों की हिमायत महात्मा गांधी ने क्यों की थी, इसका रहस्य भी मेरी समझ में तभी आया। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि और कुछ हो-न-हो, पत्नी के रंग में थोड़ी-बहुत स्यामलता अत्यन्त आवश्यक है। मेरा पक्का विश्वास है कि नव-विवाहित लोग मेरे इस प्रथम सिद्धान्त को मान लेने पर आगे आनेवाले बहुत-से खतरों से बच सकते हैं।

और तभी एकाएक मैंने अनुभव किया कि पत्नी को चाय 'सर्व' करने में ही नहीं, उसके साथ पकौड़ियाँ और पापड़ तलने में भी दक्ष होना चाहिए। यह ठीक है कि वे बाहरवालों के सामने 'एटीकेट' से पेश आयें, मगर मैंने सोचा कि उसका कुछ हिस्सा मुझे और मेरे परिवार वालों को भी मिलना चाहिए। यह ठीक है कि वह फिल्म के अभिनेताओं और उपन्यास कहानी के पात्रों में दिलचस्पी लें, उनसे सहानुभूति रखें, उनकी चर्चा करें, पर साथ ही मेरा मन हुआ कि वह महीने दो महीने में कम-से-कम एक बार तो मुझमें दिलचस्पी ले ही लिया करें तो कुछ बहुत बुरा नहीं होगा।

और तब मेरे दिमाग में यह बात बैठ गई कि पत्नी मिले तो ऐसी कि जिसे खुद पसन्द न किया हो। जो भाग्य की रेखाओं, माता-पिता के आशीर्वादों और पंडितों के ग्रह-लग्नों से सात फेरे लेती हुई खुद ही खिंची चली आई हो। जो सुबह 'उठते नहीं हो जी,' कहकर उठाए और रात को 'अब सो जाओ' कहकर-दबोड़कर सुला दे। जो कमीजों के बटन टाँक सके, जूतों में फीते डाल सके, और जो मुसीबतों से लोहा लेने के साथ-साथ कपड़ों पर भी लोहा कर सके, जो एक आलू की ३६ तरकारियाँ बना सकती हो, जो मटर के छिलकों, गोभी के डंठलों, आमों की गुठलियों, इमली के बीजों और दालों की चूनी तक को बेकार न फेंकती हो। जो ला दो वह कर दे, जो कह दो वह मान ले। बस, ऐसी कि जिसे कोई गिला नहीं, शिकायत नहीं, गुस्सा नहीं, हंगामा नहीं। जो हरदम मुस्कराती ही रहे और बोले तो जैसे किसीने मिश्री घोल दी हो। न कभी नुमायश के लिए मचले, न सिनेमा देखने के लिए जिद्द करे। पड़ोसिनें नित नये नक्शे बदलती रहें, मगर जिसे अपनी पुरानी साड़ियों और शादी के जेवरों पर ही सन्तोष हो। जो अपने बुखार का भी जिक्र न करे, पर मेरे सिर-दर्द पर ही आँसू बहाने लगे। सबसे ऊपर यह कि सदा मेरे कदमों पर चले, मेरी आँखों से देखे और मुझ पर इस कदर निछावर होजाए कि मायके के स्टेशन का नाम ही भूल जाय।

लेकिन खेद है कि मेरी यह कल्पना भी इस कम्बख्त बीसवीं सदी ने पूरी नहीं होने दी। इस बीच औरतों की तो बात छोड़िए पुरुषों ने भी स्त्रियों के लिए ऐसे-ऐसे आन्दोलन उठाए कि धरती के पुरुषों का ही नहीं, स्वर्ग में स्वयं भगवान् मनु का आसन डोल गया। फिर ३६ साल की उम्र में अब यह कल्पना दस साल पुरानी भी पड़ गई है।

इस बीच पूरे २० साल तक मैंने अपनी पत्नी को काफी अपने ढर्रे पर लाने की कोशिश की, लेकिन उस रेशम की रस्सी से बल नहीं निकला। रूस और अमरीका संयुक्तराष्ट्रों के एक विधान में बंधकर चल भी सकते हैं लेकिन हम अपने-अपने मोर्चों पर अलग-अलग तने खड़े हैं। मैं पूरब को जाता हूँ तो वह पश्चिम को। मैं उत्तर को

देखता हूं तो वह दक्षिण को। मैं अपने को महान समझता हूँ तो यही नहीं कि वह भी अपने को महान समझकर तसल्ली करलें, वह तो यहाँ तक दावा करती हैं कि मुझमें ही क्या, समूची नर-जाति में महानता का कोई माद्दा नहीं है।

वहस वेकार है। इसलिए कि विजय की कोई सम्भावना नहीं। रूस और अमरीका भले ही उलझते फिरें, मैंने फिलहाल दवकर ही सही, सम्मानपूर्ण शर्तों पर युद्ध विराम संधि कर ली है और इस निर्णय पर पहुँचा हूँ :

भला चाहते हो तो ऐसी पत्नी ढूंढ़ो जो तुम्हें वश में कर सके। आज का जमाना पत्नी को वश में करने का नहीं, पत्नी के वश में रहने का है। क्योंकि वहस में इनको आप हरा नहीं सकते, तर्क में इनसे आप जीत नहीं सकते। दबाकर इन्हें रखा नहीं जा सकता और वात भले ही वे समानता की करें, लेकिन समान अधिकार स्वयं इन्हें पसन्द नहीं हैं। भगवान ने इन्हें तो हर वात में वरिष्ठता ही वख्शी है। हर वात में उन्हें आगे रहने के लिए ही सिरजा है।

पत्नी से झगड़ने में कोई सार नहीं। यह वह डाली है जिसे मोड़ा-नवाया नहीं जा सकता। इसलिए यदि शादी करनी ही है तो ऐसी पत्नी मत ढूंढो जो तुमको आत्म-समर्पण कर सके, यह खोज सर्वथा असम्भव है। ऐसी पत्नी की तलाश करो कि जिसके प्रति स्वयं आत्म-समर्पण किया जा सके।

मैं तो अव इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि पत्नी मिले तो ऐसी कि जो पुचकार चाहे न सके, लेकिन डाँट अवश्य सके। जिसमें विनय हो या न हो, लेकिन तेजस्विता अवश्य हो। ऐसी तेजस्विता, जिसके सामने आप देख न सकें, वोल न सकें।

पत्नी को अनुशासन में रखने के दिन तो पति देवताओ, लद गए। यदि भला चाहते हो तो ऐसी पत्नी खोजो जो स्वयं पति को अनुशासन में रखनेवाली हो। क्योंकि घर पति का नहीं, घरवाली का होता है।

श्रेष्ठ नर नहीं, नारी है। अज्ञानियो, कविवर मैथिलीशरण गुप्त का कहना नहीं मानोगे :

एक नहीं दो-दो मात्राएँ,
नर से भारी नारी।

⊛
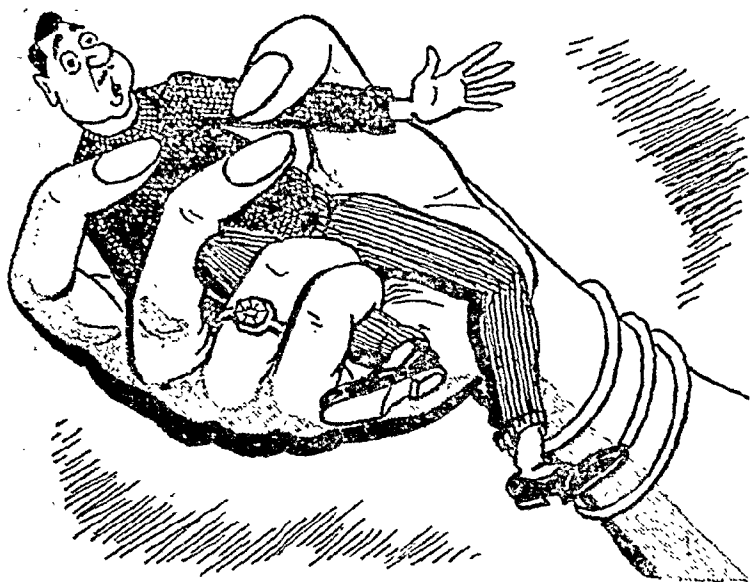
६

कुछ पतियों की भी तो सुनिए

आजकल सब की सुनवाई है, पति गरीब की नहीं। यह हाल तो पुरुषों के तथाकथित राज्य में है। अगर स्त्रियों का राज्य आया, जो एक दिन अवश्य आएगा, और यही हाल रहा, तो उस दिन हम लोगों की क्या दशा होगी, इसे कोई नहीं कह सकता।

देखिए, मालिक के मुकाबिले में आज मज़दूर को शह दी जाती है, सवर्ण के मुकाबिले में अवर्ण तरजीह पाता है और गोरों के मुकाबिले दुनिया की सहानुभूति कालों के पक्ष में तो हो सकती है, लेकिन पत्नी के मुकाबिले में कोई भी निष्पक्ष न्यायाधीश बेचारे पति की हालत पर विचार करने तक को तैयार नहीं है। गोया जन्म से ही पतियों को आजकल की पढ़ी-लिखी व तरक्कीपसन्द दुनिया जरायमपेशा मानकर चलती है।

यह मान लिया गया है कि स्त्रियाँ दबाई गई हैं, सताई हुई हैं और उन्हें उभरने का, आगे बढ़ने का पुरुष वर्ग, यानी पति लोग, मौका नहीं देते, देना भी नहीं चाहते। यह भी कहा जाता है कि स्त्री करुणा, ममता और क्षमा की मूर्ति है। वह संतोष, समर्पण और स्नेह जैसे दैवी गुणों से ओतप्रोत है और पुरुष यानी पति के भाग्य में तो बस, छल, अविश्वास और स्वार्थ जैसे शब्द पड़े हैं। इन नारों और निष्कर्षों में झूठ-सच किस मिकदार में है, यह आप स्वयं जानते होंगे। मैं इनकी तफशील में नहीं जाना चाहता। दूसरों की आँखों के तिनकों को हटाने से भी क्या लाभ, मैं अपने शहतीर की खबर लेता हूँ।

सौभाग्य से मैं भी एक पति हूँ। गृहस्थी की गाड़ी में जुते काफी दिन होगए। अगर मेरी आवाज में जरा भी दम है और अगर वह आपकी सहानुभूति के स्तर को तनिक भी छू सकती है, तो भाइयो, और बहनो, पतियो और पत्नियो, पूरे जोर के साथ, भुजा उठाकर कहता हूँ—पत्नी नहीं, आज पति सताया हुआ है। शासित आज पत्नी नहीं पति है। पतियों के जुल्मों के दिन तो हवा हुए। अगर हमें मानवता की रक्षा करनी है, तो पहले सब काम छोड़कर पत्नियों के जुल्मों से असहाय पतियों की रक्षा करनी होगी।

घर में पत्नी के आते ही एक ओर मा, बहन और भाभी ने मुझे खुले आम जोरू का गुलाम कहना आरम्भ कर दिया है। तो भी मुझे यह तसल्ली नहीं कि कम-से-कम घरवालों की इस घोषणा से श्रीमती जी को तो प्रसन्नता होगी ही। उलटा उनका आरोप यह है कि मैं मा, बहनों और भावजों के सामने भीगी बिल्ली बन जाता हूँ और जैसा कि मुझे करना चाहिए, उनकी तरफ़दारी नहीं करता। मा कहती है कि लड़का हाथ से निकल गया, बहन कहती है भाभी ने भाई की चोटी कतर ली। भाभी कहती है देवरानी क्या आई लाला तो बदल ही गए। लेकिन पत्नी का कहना है कि तुम दूध पीते बच्चे तो नहीं, जो अभी भी तुम्हें मा के आंचल की ओट चाहिए। बताइए, मैं किसकी कहूँ? किसका भला बनूँ? किसका बुरा बनूँ? वैसे तो सभी नारियाँ शास्त्रों

की दृष्टि से पूजनीय हैं, मगर मेरा तो इस जाति ने नाक में दम कर रखा है।

अगर मेरे इस कथन में तनिक भी सचाई की कमी महसूस हो, तो मैं इस प्रश्न को फ़ैसले के लिए किसी भी पंचायत में, किसी भी जाँच-अदालत में ही नहीं, यू० एन० ओ० तक में देने को तैयार हूँ कि वह अपने निष्पक्ष निर्णय के द्वारा संसार के पतियों में जनमत संग्रह करा कर इस बात को बताएं कि पति-समाज की दशा संसार में कितनी दयनीय है ?

शायद, मेरे इस कथन में कुछ देवियों को अतिशयोक्ति मालूम हो। कुछ हास्यरस का लेखक समझकर मेरी इस मार्मिक निबंध को भी हँसी में दरगुजर करना चाहें, पर मैं एकदम गम्भीर भाव से कहता हूँ कि ऐसा करना मेरे साथ ही नहीं, मेरी महान् पति-बिरादरी के साथ भी अन्याय का कारण होगा। आप न जाइए यू०एन०ओ०, न बैठाइए जांच कमीशन, न कीजिए पँच-फैसला, खुद ही अपनी-अपनी अक्ल पर थोड़ा जोर डालकर सहानुभूमि से इस मसले पर विचार कीजिए, तो मेरी बात को सच पाइएगा।

उदाहृण के लिए मैं कोई ४०० रु० महीने में पाता हूँ। पहली तारीख को मुझे सीधा घर पहुँचने की हिदायत है। कह दिया गया है कि तनख्वाह लाकर सीधे पहले घर में देनी चाहिए, धोबी, कैन्टीन और रेस्ट्रा के बिल सब वाहियात हैं। अगर हों भी तो उनके बिल पहले होम-मिनिस्ट्री में मंजूर होने चाहिएँ। साल में गिनकर दो बार मेरे कुर्ते पायजामे सिलवाए जाते हैं और होली-दशहरे से पहले अगर वे जवाब भी दे जाएँ तो उनके लिए अलग से रकम मंजूर नहीं होती। दफ्तर जाते समय दोपहर बाद नाश्ते का सामान कैरियर में लटका दिया जाता है। गिनती के चार पान डिब्बी में रख दिए जाते हैं। छोटी-छोटी चार इकन्नियां जेब में डाल दी जाती हैं और शाम को लौटने पर पूछ लिया जाता है कि वह चार आने पैसे किसमें खर्च कर दिए ?

रात को नौ बजे सोने और सुबह छः बजे उठने की मुझे सख्त

ताक़ीद है। ज़ोर से हँसने, सिर उठाकर चलने, इधर-उधर बैठने और अंटशंट किताबें पढ़ने की मुझे मनाही है। ज्यादा चाय पीने, देर से घर लौटने और कभी सिनेमा-थियेटर का जिक्र करने पर खास तौर की सजाएँ निश्चित की हुई हैं। तय हैं कि महीने के पहले सप्ताह के प्रथम शनिवार को उनके साथ सिनेमा जाना है। खेल और क्लास का चुनाव वह स्वयं करती हैं। चलते वक्त उन्हें क्या पहनना है और मुझे क्या पहनना है, इसका फ़ैसला उन्हींके हाथ में है। यह आज सोलह वर्ष से मुझे निरन्तर बताया जारहा है। सख्त आदेश है कि खेल से पहले का समय उनसे बातें करने में और खेल के समय अपना ध्यान मुझे पर्दे पर ही लगाए रखना चाहिए।

मुझे किस-किस प्रकार के और किन-किन लोगों से दोस्ती रखनी है, कैसे-कैसे लोगों के घर जाना है और किन-किन को घर बुलाना है उनकी सूचियों के विषय में मुझे बातें करने, देखने और सोचने तक की मनाही है। घर के दाल, मिर्च और मसाले मुझे ही लाने पड़ते हैं, मगर उनकी सूची और भाव मुझे पहले से लिखकर दे दिये जाते हैं और उनसे कम-बढ़ होने पर कड़ी कैफियत ली जाती है। लेकिन, बाकी मार्केटिंग का काम वह स्वयं करना पसन्द करती हैं। मुझे बार-बार हँसकर समझा दिया गया है कि मैं उनकी पसन्द की हुई, खरीदी हुई चीजों की सिर्फ़ तारीफ़ करूँ न उनके नाम पूछूँ, न दाम।

मान लिया गया है कि मुझे लेटेस्ट फैशन का ज्ञान नहीं। यह भी तय होगया है कि मैं और पतियों की तरह अधिक नहीं कमा सकता और यह भी कि मेरे पल्ले पड़कर उनकी जिन्दगी तबाह होगई है। अब जिन्दगी किसकी खराब हुई है इसका फैसला आप खुद करें। खुदा के लिए इस प्रश्न को वर्ग-संघर्ष का, बिरादरी का, या अपने मान-अपमान अथवा स्वार्थों और हितों का न बनादें। यह भी सोचें कि पति भी आखिर मनुष्य है। भगवान् ने उसे भी दिल और दिमाग दिया है। नई रोशनी ने उसमें भी तमन्नाएँ भर दी हैं। वह भी दूसरों की तरह न्याय का हक़दार है।

जरा खुद ही ठंडे मस्तिष्क से सोचिए कि अन्याय पति के साथ हो रहा है या पत्नी के साथ ? खर्च पति पर ज्यादा होरहा है या पत्नी पर ? आराम से पति अधिक है या पत्नी ? अगर आपने घर में ही इस मसले को हल नहीं किया तो वह दिन दूर नहीं जब पति लोग पत्नियों के इस दमन के विरुद्ध बगावत कर देंगे, और पत्नियों की इस मीठी नादिरशाही को खत्म करने के लिए उनका नारा होगा—"दुनिया के पतियों एक हो जाओ।"
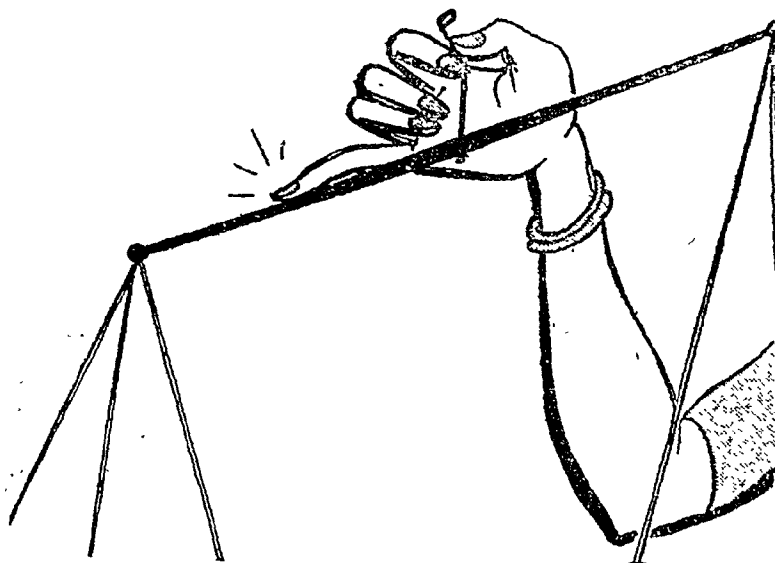
१०

'उन' के मैकेवाले

मेरी पत्नी के गुण-गौरव का कोई ओर-छोर नहीं। कोई एक हो तो गिनाऊँ? शंखिनी, हस्तिनी को छोड़कर पद्मनी, चित्रणी आदि स्वकीया नायिकाओं के जितने भी लक्षण साहित्य-शास्त्र में लिखे गए हैं, वे सब मेरी पत्नी में ज्यों-के-त्यों लक्षित हैं।

सुन्दर तो कौन पत्नी कब नहीं होती? दुनिया की हर पत्नी आदि से अन्त तक सुन्दर ही होती है। जो अभागे पति इस चरम सत्य को नहीं पहचानते, या पहचानकर भी स्वीकार नहीं करते, वे इस जन्म में नाना प्रकार के क्लेशों को भोगते हुए, अन्त में अवश्य ही रौरव नरक को प्राप्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

तो, जिस प्रकार सुन्दरता मेरी पत्नी का जन्मसिद्ध अधिकार है, उसी प्रकार कुल-गौरव भी, भगवान ने उन्हें जन्म-जन्मान्तर से भेंट

किया है। उदाहरण के लिए उनके पूज्य पिताजी से बढ़कर कोई बुद्धिमान पुरुष न तो इस दुनिया में आज तक हुआ है, और न आगे कभी होगा। उनकी माताजी जैसी नेक और सही सलाह देने वाली भद्र महिला, दूसरे चाहे किसी को भले ही मिल जायें, लेकिन जहाँ तक मेरा निजी सम्बंध है, मुझको उन जैसा हितैषी और अमूल्य सलाहकार, घर बैठे, इस जन्म में तो कम-से-कम नहीं ही मिल सकता। जिस प्रकार काशी, मथुरा के विद्वान पंडित परस्पर शास्त्रार्थ करते हुए वेद, शास्त्र, गीता, रामायण के उद्धरणों का उल्लेख किया करते हैं, या आजकल के मासिक-सप्ताहिकों के चतुर लेखक अपने सम्पादक और पाठकों पर स्थायी प्रभाव डालने के लिए देशी-विदेशी विद्वानों के वाक्य उद्धृत किया करते हैं, उसी प्रकार मेरी पत्नी भी बड़े-से-बड़े शादी-विवाह का प्रसंग हो या छोटी-से-छोटी नमक-तेल-हल्दी की खरीदारी हो—सदैव अपनी पूज्य माताजी के वचनों का मुझे स्मरण दिलाती रहती हैं।

मेरी पत्नी के विचार से उनके भाई से अधिक चतुर और विश्वासपात्र कोई आदमी हो ही नहीं सकता। हमारे घर में जो अव्यवस्था है, नौकरों ने जो अंधेर मचा रखा है, जमाने-भर के जो रिश्तेदार घर को लूट-खसोट रहे हैं, उन सबका एक ही इलाज है कि मैं उनके भाई, यानी अपने परमप्रिय साले साहब को, अपने घर बुलाकर बसा लूँ और फिर देखूँ कि भाई-बहन दोनों ने मिलकर मुझे किस आसानी से घर के सारे काम से एकदम मुक्त कर दिया है!

मेरी बहन ही नहीं, मेरे मुहल्ले की, परिचित या हमारे समाज की कोई भी पढ़ी-लिखी लड़की मेरी पत्नी की निगाह में नहीं चढ़ती। किसीको ढंग से जूड़ा बाँधना नहीं आता, तो किसीको कपड़े पहनने का सलीका नहीं। बातचीत में जो नफासत, वाणी में एक अजब तरह की लोच और बारीकी, शराफत यानी एक खास किस्म की तहजीब, जो आजकल की लड़कियों में झलका करती है, वह सिर्फ उनकी छोटी बहन में ही पाई जाती है। साहित्य की समझ है तो मेरी साली को, सिनेमा की परख है तो पत्नी की बहन को, चाय बनाना आता है तो

'उन'की मा-जाई को, काढ़ना-बुनना आता है तो मेरी सिस्टर-इन-ला को, यानी वहन उनकी क्या हुई, एक करामात होगई ! पर साहब, पत्नी कहती हैं तो कौन बावला है जो उसे करामात मानने से इन्कार कर दे ?

और, जैसा कि हर समझदार पति को करना चाहिए, मैं भी अपनी श्रीमतीजी की इन बुलन्द रायों को कभी चुनौती नहीं देता। एक फरमाबरदार पति की तरह चुपचाप स्वीकार करता चलता हूँ, "जी, आप दुरुस्त फरमाती हैं।"

पर, जब बात घर के बच्चों तक पहुँच जाती है तो जी खीज ही उठता है।

अभी कल बड़े भाई साहब का छोटा ५ साल का मुन्नू जब स्कूल से लौटा तो चाक से सफेद और स्याही से जगह-जगह चिन्दा-बिन्दा होरहा था। उसने जो मुझे घर के सामने देखा तो "चाचा !" कह कर दौड़ा और लिपट गया। मैंने भी उसे लपककर गोदी में भर लिया। काफी देर तक हम दोनों 'सुसी' खेलते रहे। लेकिन जैसे ही बच्चे ने अपनी चाची को आता देखा, भाग खड़ा हुआ। इधर मुझे अकेला पाकर चाचीजी ने भाषण फटकारना प्रारम्भ कर दिया, "इस घर के बच्चों को तो जरा भी तमीज नहीं। स्कूल में पढ़ने जाते हैं या होली खेलने ? घर से लाख बना-संवारकर भेजो, बाहर से लौटेंगे तो एकदम जानवर बनकर ! इस घर के आदमी भी तो उन्हें कुछ नहीं कहते ?"

मैंने टोका, तुम तो नाहक तेज-होरही हो। बच्चे हैं, कोई गुड्डे थोड़े ही हैं कि आले में सजे हुए बैठे रहें। खेलना ही इनका पढ़ना है। अभी उम्र ही क्या है ? सब समझ जाएँगे।"

तो तमतमाती हुई बोलीं, "खाक समझ जाएँगे। मोर तो चिते-चिताए आते हैं। जनाब, हमारे बड़े भाई साहब की साढ़े तीन वर्ष की छोटी-सी लड़की है, गुड्डी ! कभी आपने उसे गन्दे कपड़ों में देखा है ? दिन में दस बार साबुन से हाथ धोती है। अभी से कंघी-चोटी का ऐसा शौक है कि आप कभी उसके बाल बिखरे नहीं पा सकते। और, भाई

न मैना तोते से किस्सा कहती और न एक रात में सौ खून होते। ये राधा और कृष्ण, हीर और राँझा, लैला और मजनूं, ढोला और मारू, एडवर्ड और सिम्पसन अगर समाज में पैदा नहीं हुए होते तो विना सींग-पूछ वाला आदमी भी भला क्या आदमी रहता ?

अगर आप प्रेम से कतराते हैं और कहीं से ठोकर खाकर उसकी वावत कुछ नहीं सुनना चाहते तो और लीजिए कि अगर माहमारियाँ न होतीं, युद्ध न होते और समय तथा विज्ञान का भस्मासुर न पैदा होता रहता तो संसार में मनुष्य रूपी कीड़े उसी प्रकार न किलविला रहते जैसे आजकल हिन्दुस्तान में करोड़ों की तादाद में रेंगते रहते हैं। —

पर छोड़िए इन वातों को भी। मैं पूछता हूँ, अगर शैतान न होता तो भगवान का कोई नाम न लेता ?

किसी को भला-बुरा क्यों कहें ? दिन का अपना आलम है तो रात का अपना रस। गर्मी का अपना गुवार है, तो सर्दी का अपना सरूर। पाप की अपनी कशिश है तो पुण्य का अपना पराक्रम। शैतान के अलग जलजले हैं, तो भगवान की अलग कृपा।

रहीम कवि से पूछने गए खानखाना साहब, आँख और ओंठ में से कौन अधिक मजेदार है ? अनुभवी रहिमन किसको कम नम्बर देते ? उन्होंने फौरन कहा :

नयन सलौने, अधर मधु कहु रहीम घटि कौन ?
मीठो भावै लौन पै, औ मीठे में लौन ?

यही वात जिन्दगी के लुत्फ के सम्वन्ध में भी है। मथुरा के महामना चतुर्वेदियों को छोड़ दीजिए। वैसे संसार का कोई भी भोजनी अकेली मिठाई से तृप्त नहीं हो सकता। चाहे मथुरा का पेड़ा हो या जयपुर का कलाकन्द, कलकत्ते के रसगुल्ले हों या कराची का हलवा, काशी का मगदल हो या दिल्ली का पकवान, कुछ ही देर में खाली मीठे से मुँह फिर जाएगा। चटनी, पापड़, कांजी और अचार ? क्या कहने हैं इनके जायके के ? मगर थाली में, खाली इन्हें ही परोस छोड़िए,

मेहमान मन-ही-मन गाली देकर न उठ जाएँ तो वात रही। इसलिए जिस प्रकार मीठा नमक का पूरक है, या नमक मीठे की लाग है, उसी प्रकार मिलन विरह का पूरक है और विरह मिलन का हमजोली। लोग विरह को, जुदाई को कोसते वहुत हैं, मगर सच पूछिए, जुदाई न हो तो जिन्दगी वेलुत्फ होजाय।

पूछिए, कैसे ?

तो, वात मैं आज से नहीं, वहुत पहले से प्रारम्भ करूँगा ? आप चाहे जैसे तरक्कीपसन्द क्यों न हों। चाहे आप मास्को में हों, या न्यूयार्क की टकसाल में ढले हों, राम और सीता का नाम तो आपने सुना ही होगा। वही राम जो हिन्दुस्तानियों को मरने के वाद मुक्ति देते हैं, और वही सीता जो हिन्दुस्तानी औरतों को जीते-जी घुटने की शक्ति देती है। आप जानते हैं ये दोनों मनुष्य से देवता कैसे वन गए ? राम अगर सिर्फ अयोध्या के राजा हुए होते और उन्होंने रावण को यूँ ही पराजित कर दिया होता तो मात्र इतने से वह भगवान नहीं वन सकते थे। वह भगवान इसलिए वने कि उन्हें न केवल राज, समाज, पुर, परिजन वगैरह से ही १४ वर्ष के लिए जुदा होना पड़ा, वल्कि बीहड़ वनों में खग-मृग और मधुकर श्रेणी से अपनी पिकवैन सीता का वर्षों तक पता पूछना पड़ा। इस विरहाग्नि में तपकर ही हमारे राजा राम, जनता के, साहित्य के, संस्कृति के पतितपावन पुरुष हुए।

राम के साथ सीता का, राजसी वैभव छोड़कर वन-वन भटकना वड़ी वात है, पर उससे भी अधिक उनका महाप्रतापी रावण के वश में पड़कर भी राम की याद को सीने से लगाए रखना या विरह की ज्वाला को दहकाए रखना महत्त्वपूर्ण है। चौदह वर्ष का वनवास काटकर राम यूँ ही फिर लौटकर अयोध्या का राज पा लेते तो कोई वात रहती ? पर नहीं, अपने विरहातप में रावण को सकुटम्व स्वाहा करके वह अयोध्या की गद्दी पर वैठे तो उनकी कीमत कुछ और ही हो गई।

इतना ही नहीं, राम अगर राजसुख को भोगते-भोगते ही निज-धाम को प्रस्थान कर जाते तो भी वह कदापि लोकोत्तर न माने जाते।

उनके महान बनने के लिए, अखंड विरह का एक और 'क्लाइमैक्स' आना आवश्यक था। उन्होंने सीता को वनवास दिया और वह स्वयं तिल-तिलकर अपनी जन्म-जन्मांतर की संगिनी के विरह में जलते रहे, आँसुओं में गलते रहे तभी वह रामायण के नायक बने। कवियों की वाणी का शृंगार बने। यह विरह की महिमा है कि उसने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम बना दिया।

और हमारे व्रजवासी कृष्ण ? विरह और मिलन के जितने खेल उन्होंने खेले उतने भोगना तो दूर, कोई सोच भी नहीं सकता। मथुरा से वृन्दावन कितनी दूर ? केवल छः मील। दिन में छः बार वहाँ जाकर मथुरा लौटा जा सकता था। लेकिन कान्हा हैं कि गोपियों को विरह में झुलसा रहे हैं और गोपियाँ हैं कि विरह-ताप में, दर्शनों की लालसा में, राह देखते-देखते परम-पद पाजाना तो मंजूर, मगर मथुरा जाकर अपने प्यारे से सहज 'इंटरव्यू' माँग लेना मंजूर नहीं।

लेकिन सोचिए, मथुरा का शासन सूत्र सम्हालने के बाद कृष्ण का रथ रोज-रोज अगर वृन्दावन में खड़ा रहता और उन्होंने व्रज की जागीर नन्द बाबा को बख्श दी होती, राधा के पिता वृषभान को एक बहुत बड़ी डेरी खुलवा दी होती और ललिता, विशाखा, चन्द्रावली आदि सखियों को अपने हरम में दाखिल कर लिया होता तो आज के अफसरों, नेताओं और शासकों के पास तर्क का कितना बड़ा हथियार आगया होता। हालांकि इन्हें इसकी जरूरत नहीं। वे बिना राम-कृष्ण के उदाहरण के भी अपना काम बड़ी खूबी से निकाल रहे हैं। लेकिन कृष्ण क्या कृष्ण रहते ? और गोपियाँ भी गोपियाँ रह पातीं ? तब सूरदास सूरसागर क्या समझकर लिखते ? नन्ददास को भ्रमरगीत लिखने की प्रेरणा मिलती और रत्नाकर भी उद्धवशतक लिख पाते ? मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि स्वयं कृष्ण भगवान को भी तब कुरुक्षेत्र की भूमि में अर्जुन को गीता का ज्ञान देने की हिम्मत न पड़ती। वह तो राधा और गोपियों का आकुल विरह ताप ही था, जिसने श्रीकृष्ण को योगिराज बनाया, परम ब्रह्म कहलवाया। कहने का तात्पर्य यह कि संयोग की

सम्पुष्टि के लिए वियोग की भूमिका अपरिहार्य है।

वियोग न हो तो संयोग का रस ही क्या ? इन्तजार में जो मजा है वह वस्ले यार में कहाँ ? विरह में जो एकात्मता है, जो याद है, तड़प है, लगन है, टीस है वह संयोग में कहाँ ? याद को जीवित रखना है तो विरह को संजोइए। मिलन में विरह की स्ट्रावरी का 'शेक' देते रहिए लुत्फ कुछ और ही होजायगा। विरह अहंकार को गला देता है और ये अहंता, मिलन के मार्ग की वैसी ही रुकावट है जैसे प्रेमिका के दरवाजे पर बैठा हुआ बुलडाग किस्म का कोई भयंकर कुत्ता।

विरह की महिमा देवों ने ही नहीं असुरों ने भी गाई है। वृत्रासुर ने मरने से पहले भगवान से यही प्रार्थना की थी—हे प्रभो न मैं स्वर्ग चाहता हूँ, न ब्रह्मपद। न मैं चक्रवर्ती बनता चाहता हूँ, न रसाधिपति। मैं योगसिद्धि भी नहीं चाहता। मुझ दासानुदास को तो आपका अखंड विरह चाहिए। श्रीमदभागवत में वृत्रासुर चतुःश्लोकी में लिखा हैं :

अहं हरे तव पादमूलम्
दासानुदासो भवतास्मभूयः।
मनस्मरेता सुप्ते गुणास्ते
गुणीत वाक् कर्म करोतु कायः।
न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं,
न योगसिद्धि पुनर्भवंवा
समंजसत्वा विरहय्य कांक्षे।

अधिक दूर क्यों जाऊँ ? मुझे ही लीजिए न ? मैं हिन्दी का पत्नीवादी कवि, इस समय आपको अपने अत्यंत विश्वास में लेकर यह रहस्य बताता हूँ कि जब श्रीमतीजी मेरे पास होती हैं, तो मेरी कविता मुझसे कोसों दूर चली जाती है। लेकिन जब मैं प्रवास में होता हूँ, या पत्नी अपने मैके में सानंद वास करती हैं, तो मेरी कल्पना के बंद कपाट छंदों की थपथपाहट से आप-ही-आप खुलने लगते हैं। हृदय में कुछ होने-सा लगता है। कविता की पंक्तियाँ आप-ही-आप उचकने-सी लगती हैं और

न जाने कहाँ सोए हुए-से भाव अपने आप विना किसी प्रोत्साहन के प्रवुद्ध होने लग जाते हैं।

मैं ही क्यों, आपके साथ क्या यह वात लागू नहीं है ? दिन-भर दफ्तर में खटने के वाद जव आप शाम को घर लौटते हैं तो आपको अपनी पत्नी कुछ अधिक नई, कुछ अधिक प्रिय, कुछ अधिक शोभन दिखाई नहीं देतीं ? या जिस दिन सवेरे चाय में अधिक दूध डालने पर, टोस्ट पर अधिक मक्खन लगाने पर, सब्जी में अधिक नमक पड़ जाने पर या खोजने पर भी आपका रूमाल न मिलने पर जव आपका अपनी उनसे झगड़ा होजाता है और दिन-भर इन व्यर्थ की बातों पर तुनुक-मिजाजी करने से व्यथित आप जव घर लौटने पर अपना एक नई मुस्कान से स्वागत पाते हैं तो दिल के थर्मामीटर से उस दिन नापिए, मुहव्वत का पारा सारी संख्याओं को पार कर चुका होता है या नहीं ?

एक वार की वात। उन्होंने एक शाम मुझसे गौरीशंकर चलने को कहा। हारा-थका दफ्तर से लौटा था। खीज गया। कह दिया, "मुझे फुर्सत नहीं। जाना हो, खुद चली जाओ।"

पत्नी कोई छोटे बाप की वेटी तो होती नहीं। चादर उतार दी और पलंग पर पड़ रहीं।

मैंने सोचा, यह भी खूव रही। हारा-थका आदमी घर आए, उसका यह स्वागत। सोने दो, नहीं मनाता।

किस्सा संक्षेप में यों कि पूरे एक सप्ताह तक दोनों ओर से शीत-युद्ध चलता रहा। वह सामने पड़तीं तो मैं निगाह फेर लेता, और मैं सामने आता तो वे कन्नी काट जातीं। वातचीत एकदम वन्द। जैसे सीता तृण की ओट करके रावण से वातें करती थी, ऐसे ही वह वच्चों के माध्यम से जरूरी वातें कहला देतीं। मेरा संचार-साधन घर का नौकर बना हुआ था।

जव सात दिन वीत गए और उन्होंने तनिक भी अपने रुख में नरमी नहीं दिखाई तो मैंने युद्धनीति में कुछ परिवर्तन किया। धीरे-धीरे खुराक कम की। पहले सुवह का खाना छोड़ा, वाद में शाम का और

एक दिन ओढ़कर लेट ही तो गया। बच्ची आई तो कह दिया, "कुछ नहीं, यही कुछ मामूली-सी हरारत है।"

मेरी इस फर्जी हरारत ने उनकी सारी गर्मी उतार दी। मुझे तो १० दिन में ही चाँद-तारे दिखाई देने लगे थे। उनका भी यही हाल रहा होगा। तभी तो हरारत सुनते ही वह ऐसे दौड़ीं आई कि मानो उन्हें इस घड़ी का ही जैसे इन्तजार था। आँखों में आँसू, मुँह पर अनुताप के बादल, दिल में बेचैनी और शक्ल पर अजब-सी मासूमियत कि मैं क्या बताऊँ आपको? इस विरह-व्यथा की कथा यों समाप्त हुई कि गौरीशंकर जाने से हीले-हवाले करने वाले व्यक्ति ने लड़कर दफ्तर से १ महीने की छुट्टी ली और कैसा अकेला गौरीशंकर, हम लोग, प्रयाग, काशी, कलकत्ता होते हुए सीधे जगन्नाथपुरी पहुँचे और एक महीने के बाद भी जब जी नहीं भरा, तो तार भेजकर १५ दिन की छुट्टी ओर बढ़वा लीं। हमारी जगन्नाथपुरी की यह यात्रा जीवन की मधुरतम स्मृति है। लेकिन इस लुत्फ के पीछे, इसके मूल म, १० दिन का विरह समाया हुआ है न? दस दिन के उस अलगाव ने कम-से-कम हमें फिर १० महीने के लिए एक रस, एक मन, एक प्राण कर दिया। इसीलिए हम कवियों के अग्रणी सुमित्रानन्दनजी ने बड़े गहरे अनुभव से यह घोपणा की है---

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान।
निकलकर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान!
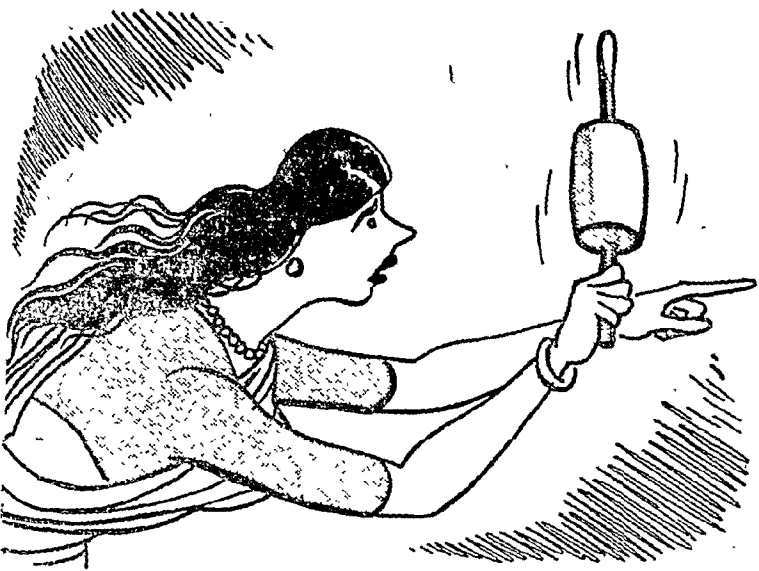
१२

उन्हें शिकायत है

अपनी नारी-भक्ति को मैंने छिपाया नहीं। नारी-महिमा से प्रभावित कौन नहीं होता ? लेकिन खुलकर अपने को नारी-भक्त बनाने का साहस सबमें नहीं। यह तो गुणों को पहचानने की बात है। उसकी परख हर एक को होती भी कहाँ है ? अपनी बात कहूँ ? मैंने डंके की चोट नारी को अन्नपूर्णा, जगजननी और महामाया के रूप में स्वीकार करते हुए स्पष्ट घोषणा की हैं कि संसार में ईश्वर कोई और नहीं, सिर्फ पत्नी ही परमेश्वर है। मैंने साफ-साफ लिख छोड़ा है कि अब कृष्णचन्द्र के दिन बीत गए, जमाना अब राधाओं का आगया है।

पुरुष जाति को अपने कर्तव्य की सूचना मैंने इन पंक्तियों में इस प्रकार दी है :

सीखो पत्नी-पूजन-पद्धति,
पत्नी-अर्चन, पत्नी-चर्या,
पत्नी-व्रत पालन करो, और
पत्नीवत् शास्त्र पढ़ें जाओ।

इस प्रकार रीझकर और कभी-कभी खीझकर भी मैंने अपने पत्नी रूपी राम की आराधना करते हुए उसके रूप में समग्र नारी जाति का अभिनन्दन किया है। लेकिन दुनिया में जैसे सभी अच्छे प्रयत्नों में विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं और भले आदमी जैसे सदैव पीड़ित किए जाते रहे हैं, उसी प्रकार मेरे सदाशय के प्रति भी शंका प्रकट करनेवाले लोग मिल ही जाते हैं।

अभी पिछले दिनों मुझे एक शिक्षित महिला का पत्र मिला। इसमें न केवल मेरी, बल्कि मेरी लेखक-बिरादरी की सख्त शिकायत की गई है। इसे शिकायत न कहकर भर्त्सना कहना ही अधिक ठीक होगा। पत्र में छिपाने लायक कोई बात नहीं। मैं उसे ज्यों-का-त्यों आपके सामने रक्खे देता हूँ :

प्रिय व्यासजी,

मैं आपके ही नगर की साहित्य में रुचि रखनेवाली एक साधारण नारी हूँ। सभा-सम्मेलनों में आपको देखा-सुना तो है ही, फुर्सत के समय आपकी किताबें भी पढ़ गई हूँ। पत्नी के माध्यम से आपने नारी जाति का गार्हस्थिक जीवन चित्रित किया है। कुछ मामलों में इसमें सचाई भी हो सकती है। पाँचों अंगुलियाँ बराबर नहीं होतीं। लेकिन, मैं नहीं जानती कि आपकी पत्नी ठीक वैसी ही होगी, जैसी कि आप उन्हें अपनी रचनाओं में चित्रित करते हैं। आप ही क्या, कोई लेखक नारी का वैसा चित्रण नहीं करता जैसी कि वह होती है। जब आप नारियों की फ़ैशन-परस्ती पर, शंकालु स्वभाव पर, उनके झगड़ालूपन पर, उनकी 'यह लाओ वह लाओ' की आदत पर, रूढ़िवादिता पर या भौतिक दृष्टिकोण पर व्यंग-बाण चलाकर हास्य प्रस्तुत करते

तब शायद यह भूल जाते हैं कि नारी को उस स्थिति में पहुँचाने के लिए उत्तरदायी कौन है ? आपके उस कटु परिहास में नारी जाति की कितनी अवमानना छिपी होती है ? आपके तीर कैसे उनके कोमल कुसुम मन को निर्ममता से विदीर्ण कर डालते हैं ? मैं आपसे पूछती हूँ कि क्या आपने ऊपर की काई को हटाकर कभी पत्नी रूपी नारी के निर्मल मानस में झाँककर देखने का प्रयत्न किया है ? अगर देखते तो उस स्नेह-जल की निर्मलता में आपको अपना ही नहीं, अपनी समस्त लेखक-बिरादरी का चेहरा भी साफ दिखाई दे जाता। कितना अन्याय किया है आप सब लोगों ने नारी जाति के प्रति ? जिसका दूध पीकर बड़े हुए, जिसने अंगुली पकड़ कर उठाया, हाथ पकड़कर बढ़ाया, जिसके उपदेश से महाकवि और महात्मा बने, उसी जाति के लिए श्रीमानजी क्या उपदेश छोड़ गए :

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

असल में बात यह है कि पुरुष लेखकों ने कभी नारी जाति के साथ न्याय किया ही नहीं। वे सदैव उसके मन के मर्म को समझने में असमर्थ रहे। मैं पूछती हूँ कि किसी लेखक के मन में सीता द्वारा राम के परित्याग की कल्पना क्यों नहीं उदित हुई ? कवि की कल्पना इसके लिए भी कोई कल्पित रजक तैयार कर सकती थी ? लेकिन ऐसा करने से उसके मिथ्या दम्भ को चोट जो पहुँचती ? वह राधा के रूप में सिर्फ नारी को ही रुलाना-कलपाना पसन्द करता है, राधा के वियोग में कृष्ण व्याकुल हों, सुधि-बुधि भूल जाएँ, यह तो सरासर पुरुषत्व का अपमान है ! लेकिन अपमान नहीं है नारी जाति का वह नखशिख जिसका कवियों ने रस ले-लेकर बढ़-चढ़कर वर्णन किया है।

आपने यह प्रख्यात पद तो पढ़ा ही होगा :

अद्‌भुत एक अनुपम बाग।
युगल कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग।

और आगे :

करि पर सरवर, सर पर गिरवर तापर फूले कंज-पराग।

किस तरह कबूतर, तोते और सर्प नारी के शरीर में बैठा कर उसे जंगली रूप में चित्रित करके कवि ने अपना जो वहशीपन दिखाया है। क्या उसे कोई भी सुरुचि का परिचायक कह सकता है ?

मैं कोई कवयित्री नहीं। लेकिन क्या बताऊँ, एक दिन मेरे मन में आया कि पुरुष जाति का वह नख-शिख वर्णन करूँ कि उसे भी याद रहे। मैं तो सोचकर ही रह गई, लेकिन आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप अवश्य ही मेरे विचार पद्यबद्ध कर डालें। आप एक ऐसे पुरुष का चित्र अपनी कविता में खींचें जिसके खुरपे-जैसे पाँव हों, खपच्ची जैसी टाँगें हों, परात-सा पेट हो, तवे-सी छाती हो, हुड़क-सी गर्दन हो, कौड़ी-सी नाक के दोनों ओर पकौड़ी-सी आँखें डुबक-डुबक करती हों। गाल जिसके दौंची खाए हों, कलौंची खाई जिसकी काया हो, ब्रुश जैसे बाल और बुरा न मानिए अपनी उस रचना का शीर्षक 'यह मुँह और मसूर की दाल' रखकर अपनी पुरुष जाति को अपनी विकृति का भान तो जरा कर दीजिए।

नायिका-भेद तो आपने पढ़ा ही होगा ? क्या है उसमें ? नारी के रूप, वय और विकृत काम-विकार का एक कल्पित, अश्लील और कुत्सित वर्णन। जैसे नारी की सार्थकता मानो कामिनी होने में ही है। उसकी उपयोगिता जैसे कोई और है ही नहीं। मानो नारी हो कर वह पैदा ही नहीं हुई ? वह तो सिर्फ मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा-भर ही है। न वह बेटी है, न बहन। न मा है, न दादी और न नानी ! उसके पास यदि सुन्दर तन नहीं, तो वह किसी मोल की नहीं। गुलामों के मन की भी कद्र किसी ने की है ? आज बीसवीं शताब्दी में भी जब आप लोग नारी-जागरण की दुहाई देते फिरते हैं। समानाधिकार की बातें करते थकते नहीं। गुलामी को पानी पी-पीकर कोसते हैं। लेकिन कभी नारी की गुलामी के बारे में आपने सोचने का कष्ट किया है ? आप लोगों के दृष्टिकोण में तिल-भर भी फर्क नहीं आया। नारी के

सम्बन्ध में आज भी रीतिकालीन भावनाएँ लेखकों में काम कर रही हैं। शब्द बदले हों, भावनाएँ नहीं बदलीं। युग बदला हो, दृष्टिकोण नहीं बदला। आज के लेखकों के लिए भी नारी रूप की पुतली और विलास की सामग्री है। कोई अपने उपन्यास में उसका चीरहरण करता है, कोई अपनी कविता में उसके शयन-कक्ष में चोरी या सीनाजोरी से झाँकने की मुंहजोर कोशिश कर रहा है।

नारी के अपमान करने का एक नया तरीका इन दिनों और निकला है। लेखक लोग पहले तो उनकी दुर्बलताओं का रस ले-लेकर वर्णन करते हैं। फिर उसको यथार्थ का नाम देकर अपनी दया की, जिसे वे अपनी भाषा में सहानुभूति कहते हैं, अनचाही अस्वाभाविक वर्षा करने लगते हैं। सिनेमाओं की कहानियाँ देखिए, आज का साहित्य पढ़ जाइए, सार सबका एक ही है कि लड़कियाँ लड़कों पर रीझती हैं, घर छोड़कर भागती हैं, दुःख उठाती हैं और फिर पुरुष आकर उनका उद्धार करते हैं। कैसी विडम्बना है आपके इन किं पुरुष लेखकों की! ये लोग इस वीसवीं शताब्दी में भी इस चौपाई के संस्कारों को नहीं भूल सके हैं :

नारि सकल अघ-अवगुन खानी।

कभी-कभी मेरा मन बड़ा विद्रोह कर उठता है, इन पुस्तकों को पढ़कर। कई वार यह निश्चय कर चुकी हूँ कि जब साहित्य के नाम पर नारी का अपमान, उसकी विडम्बना, उसका गलत चित्रण ही पढ़ना पड़ता है तब क्यों न इस पढ़ने को ही तिलांजलि ही दे डालूँ ? महीनों-महीनों मैंने पुस्तकों का मुँह देखना तक छोड़-छाड़ दिया है। लेकिन सवाल यह है कि आज की शिक्षित नारी अपने खाली समय का उपयोग करे भी कैसे ? इसलिए लाचार होकर फिर-फिर वही सब पढ़ना पड़ता है, जिसे मैं पढ़ना नहीं चाहती, जिसे कोई भी विवेकशील, स्वाभिमानी नारी पढ़ना पसन्द नहीं कर सकती।

यह ठीक है कि नारी के रूप में लेखक अपने ही मन के विकारों का वमन करते रहते हैं। भारत की क्या संसार की नारियाँ हर्गिज

वैसी नहीं हैं, जैसा कि आज का लेखक समाज उन्हें चित्रित कर रहा है। लेकिन यह सब कब तक चलता रहेगा ? नारी कब तक कामिनी के रूप में साहित्य के मंच पर पेश की जाती रहेगी ? उसका सहचरी रूप कब हमारे सामने प्रस्तुत होगा ? उसे कब तक प्रेयसी या पुंश्चली के रूप में अभी और बने रहना है ? उसको दया-मया का दरिया, उसकी करुणा का स्रोत, उसकी छाती का दूध, उसकी वाणी का बल, कब हमारे साहित्यकारों की प्रेरणा बनेगा ? 'सहज अपावन नारि' कब पतित पावनी बनकर हमारे साहित्य में उतरेगी ? मैं उस दिन की इन्तजार में हूँ। मैं नहीं, समूची नारी जाति उस दिन के इन्तजार में है। क्या हमारे लेखक हमारी इस आशा को पूरा कर सकेंगे ?

आपकी—

(नहीं नहीं, आपकी कोई नहीं, आपके साहित्य की एक सामान्य पाठिका)

●

१२
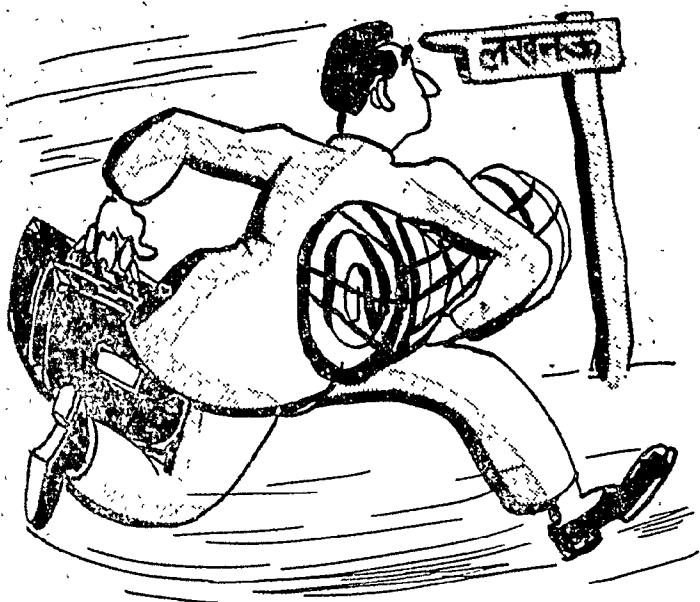
हम लखनऊ गए

बहुत दिनों से इच्छा थी कि लखनऊ देखा जाय। लैला की अंगु-
लियाँ और मजनूँ की पंसुरियाँ जैसी लखनऊ की ककड़ियाँ ही हमें
लखनऊ जाने को नहीं ललचा रही थीं वरन् सफेदा आम दशहरी नगीने
और पुखराज के डलों जैसे खरबूजे की गोल-गोल चिकनी-चिकनी
बटियाँ भी हमारे मुँह में पानी भर दे रही थीं।

उन दिनों कुछ ऐसा संयोग आ जुटा था कि जो मिलता लखनऊ
की तारीफ करता। कोई छतर मंजिल की बात करता तो कोई इमाम-
बाड़े की। कोई हजरतगंज का बखान करता तो कोई चौक नक्खास
की। किसी को वहाँ की बोली प्यारी थी तो कोई वहाँ के पानों में पड़ने
वाली [illegible] की गोलों पर वारी-वारी था। कोई वहाँ की शेरवानी
का कायल था तो कोई [illegible] का। कोई वहाँ के [illegible] पर कुर्बान

था तो कोई सुर्मे पर। कोई वहाँ की शराफत को सराहता तो कोई नफासत को। हमने भी सोचा लाओ गर्मियों की छुट्टियों में इस वार लखनऊ देख ही लिया जाय।

वहाँ हमारे वचपन के एक मित्र भी जा वसे थे। १२ साल से ऊपर उन्हें वहाँ रहते होगए थे। हमारे मित्र थे इसलिए शरीफ तो होते ही, फिर एक युग से लखनऊ में रह रहे थे इसलिए हमारा यह सोचना वेजा न था कि लखनऊ ने उनकी शराफत में कुछ इजाफा ही किया होगा। कई वार वह लखनऊ आने को लिख चुके थे। इस वार हमने पहल की, लिखा—भाई हम अमुक तारीख को फलां गाड़ी से लखनऊ आरहे हैं।

गाड़ी लखनऊ पहुँची। स्टेशन देखकर तवियत हरी हो गई। गाड़ी रुकी। हमारा ख्याल था कि समझदार को इशारा काफी होता है मित्र हमारे सपत्नीक लिवाने आए होंगे, लेकिन गाड़ी से उतरकर देखा तो वहाँ कोई न था। पहले तो सच कहें, हमें वड़ा अटपटा-सा लगा। मित्र पर गुस्सा भी आया। मगर फिर सोचा शायद चिट्ठी न मिली हो या किसी जरूरी काम से अटके हों, कोई वात नहीं। आपस में दिखावा किस वात का? मामूली-सा सामान था, रिक्शे में डाला और मित्र के घर रवाना होगए।

रिक्शेवाला शरीफ था। शहर लखनऊ का था, होना ही चाहिए। उसने विना इज्जत के सड़क-पर-सड़क गली-पर-गली और मोड़-पर-मोड़ पार करके हमें सिर्फ एक घंटे में मित्र के मकान पर आखिर पहुँचा ही दिया। मेहनत को देखकर अव हम उसे पैसे सही न दें यह कैसे हो सकता था। खैर, पैसे तो उसे चुका दिए लेकिन मित्र के मकान के वन्द दरवाजे को कैसे खुलवाया जाय, यह समस्या हमारे सामने थी। लखनऊ का मामला था, जरा शराफत से ही काम लेना चाहिए। हमने अंगुली से किवाड़ टंकोरा किसीने न सुना। धीमे से दस्तक दी कोई आहट न हुई। जरा जोर से कुँडी खटखटाई किसीकी भनक न पड़ी। लाचार आवाज लगानी पड़ी—'अरे भाई भूषण!'

एक, दो, तीन जब हमारी नाभि में से उठा हुआ स्वर गले में से फूलकर ७वीं बार मुहल्ले में गूँज गया तो अन्दर से एक बारीक किन्तु तीखा स्वर, जैसे बिगड़े हुए हारमोनियम के तीव्र निषाद पर किसीने धौंकनी दे दी, बज उठा—"देखना मोहन, यह बाहर कौन चीख रहा है? इनके रोज के आनेवालों ने तो जीना हराम कर रखा है।"

लगा कि हम लखनऊ में नहीं हैं और हमें किसीने जीवित ही गठरी में बाँधकर कुतुब मीनार से नीचे फेंक दिया है। होगई लखनऊ की सैर। सोचा, लौट चलें अपनी दिल्ली। यहाँ तो बिस्मिल्ला ही गलत होगया।

हमारा मन शुरू से ही संशयी है। किसी एक बात पर अगर दृढ़ रहे होते और एक विचार से काम किया होता तो आज हम न जाने कहाँ पहुँचे होते? बात के एक पहलू के आते ही दूसरा मन में बुद-बुदाने लगता है। हमने सोचा कि हो सकता है मित्र ने अपनी पत्नी को हमारे आगमन की बात बताई ही न हो और यह भी हो सकता है कि मित्रों का यूँ सत्कार करनेवाली महिला हमारे मित्र की पत्नी ही न हो। घर में कोई किराएदार भी तो हो सकता है। हम दम साधे दरवाजे पर खड़े रहे। सोचा कि सत्य का साक्षात्कार करना ही ठीक है, कल्पना बेकार है।

मोहन ने दरवाजा खोला और मीठी-सी आवाज में कहा—"पिताजी घर पर नहीं हैं।"

हमने बताया "दिल्ली से आये हैं और तुम्हारे ताऊ लगते हैं। यह सामान अन्दर रखवाओ।"

लड़का सुशील था। उसने हमें झुककर नमस्ते की और अटैची उठाकर अन्दर ले चला। गर्मियों का बिस्तर होता ही कितना है? हमने उसे उठाकर कन्धे पर डाल लिया और दोनों चीजों को एक कोने में जमाकर बैठक में एक आराम कुर्सी पर जम गए। सोचने लगे—आज क्या देखा जाय? चिड़ियाघर या चित्रशाला?

मोहन बोला, "ताऊजी शरबत पिओगे या चाय?" बच्चा बड़ा प्यारा

था। हमारी शिकायत दूर होगई। हमने कहा, "बेटे चाय तो गर्मी में हम पीते नहीं।" हमने कमीज उतारकर एक खूंटी पर टाँग दी, पंखा तेज किया और आराम कुर्सी पर पसरकर शरबत का इंतजार करने लगे। हमारा खयाल था कि मित्र-पत्नी शरबत के साथ स्वयं आएँगी और हमें जो सफर में और घर में असुविधा हुई है, उसपर मीठी लखनऊ की जबान से कुछ ऐसे अफसोस जाहिर करेंगी कि हमारी सारी शिकायत दूर हो जायगी। लेकिन यह क्या? बैठक में बैठे-बैठे हमें ऐसा लगा कि मोहन कुछ सुबक-सा रहा है। यों हमारी आदत किसी पराए क्या अपने घर में भी किसीके सुए-डोरे लेने की नहीं है। मगर हमारे कान उस क्षण खिंच ही तो गए। हमने सुना लड़के को घुलसा जारहा है—"मरे, किसे बैठा आया है बैठक में? ताऊजी! ऐसे ताऊजी तो यहाँ दिन में तीस आते हैं। मैं भी गई हूँ किसीके यहाँ कभी पानी पीने कि सब मेरी ही छाती पर मूंग दलने आजाते हैं। जा, मटके में पानी पड़ा है, लोटे में भरकर दे आ। और देख, यह पंखा कैसे फर-फर कर रहा है? मन्दा कर इसे।"

लड़का पानी लेकर लौटा तो उसका पानी उतर गया था। वह तो अंदर से लौट आया, मगर हमारे अधर में लटके प्राण अभी तक नहीं लौटे थे। पानी का लोटा तो हमने पकड़ लिया, मगर उसमें भरा अध-औटा पानी हमारे गले से नीचे नहीं उतर पाया। हमने सोचा—बस, अब यहाँ से चल ही देना चाहिए। हालांकि बीवियाँ सभी की कम-बढ़ एक-सी ही होती हैं। हम तो अपनी को ही कहते थे, मगर यह तो उसका भी ऊपर का पाट निकली। हमने चलना तय किया, मगर फिर मित्र का खयाल आया। वह जरूर बुरा मानेंगे। फिर सोचा कि शहर का मामला है, मित्र सदा से ही मिलनसार रहे हैं, बेचारी रोज परेशान रहती होगी। ठीक भी तो है। इन्हें मेरी और भूषण की बाल-मिताई का पता भी क्या? इन लोगों की शादी के बाद में आया भी तो पहली बार हूँ। मित्र के आते ही सब ठीक हो जाएगा।

आखिर दो घंटे बाद मित्र आए। आते ही बाहों में भर लिया। कुछ

भी हो बालापन की दोस्ती का मजा कुछ और ही है। बोले—"अमां, तुमने तो कोई खबर ही नहीं दी।"

पत्र की बात कही तो कहने लगे, "मुझे नहीं मिला।" हमने सोचा, तभी तो। नहीं तो पत्र मिले और भूषण घर बैठ रहे, यह कभी हो सकता है ?

बहुत दिनों में मिले थे हम दोनों। बातों में उलझे तो वक्त का पता ही नहीं चला। हम तो जाने कब तक बैठे रहते, मगर वह तो अन्दर से मोहन आया और कहने लगा—"माताजी बुला रही हैं।"

मित्र गए और कुछ देर बाद लौटकर आए तो मुझे लगा कि कुछ खोए-खोए से हैं। पूछा—"क्यों क्या हुआ जी ?"

बोले—"कुछ नहीं। उनकी बहन भी यहाँ लखनऊ में रहती हैं। तबियत जरा अलील है उनकी। वे ज़रा वहाँ जाना चाहती थीं। मैं सोचता था—"

"हाँ-हाँ, सोचने की इसमें क्या बात है," हमने कहा—"उन्हें हो आने दो। नहा-धो तो मैं रेल में ही लिया हूँ। खाना चलकर बाहर कहीं खा लेंगे।"

मित्र फौरन मान गए। कभी-कभी बाहर खाने में भी बड़ा लुत्फ आता है—खासकर मेहमानों के साथ। बोले—"सिर्फ एक टाइम की ही तो बात है।"

खैर, वह टाइम तो होटल में खुशी-खुशी कट गया, मगर बाद के तीन दिन हमारे जो राम-राम कहकर कटे, वह हमीं जानते हैं। न जाने मोहन बेचारा इन दिनों कितनी बार पिटा ? न जाने हमारे भूषण भाई कितनी बार रिसियाए और खिसियाए ? छोटी-छोटी बातें हैं क्या बताएँ ? कभी दियासलाई माँगने पर मोहन की माँ भभक उठतीं, कभी हाथ पोंछने के लिए तौलिया निकालने पर उनका कलेजा निकल पड़ता। कभी वह पति को डाँटतीं, कभी पुत्र को। जब इन दोनों में से कोई न होता तो उनकी झूँझल रसोई के बर्तनों पर उतरती। हमारा हाल यह कि हम कभी दाल में से मिर्च निकालते तो

कभी शाक में से कंकड़। बिस्तरों में से कभी दरी गायब होजाती तो कभी चादर। स्नान-घर में कभी साबुन नदारद रहता तो कभी तेल। कभी बालटी कम पड़ती तो कभी लोटा। पर वाह रे हम! हमारी पत्नी हमें नाहक तुनक मिजाज कहती है। हमारा धीरज तो उन दिनों योगियों को भी मात कर गया था। हमने वह स्थितप्रज्ञता धारण की कि ये छोटी-छोटी बातें हम पर उसी तरह असर नहीं कर पारहीं थीं जैसे वर्षा में बूँदों के सहस्रों आघात पर्वतों का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते।

कोई एक बात हो तो कहें। जिस दिन हम सैर को जाते वहीं बाहर खाते-पीते तो मित्र-पत्नी घर पर ही विराजतीं और किसी कदर म्यान में भी रहतीं। लेकिन जब हम घर में ही जमते तो उनका मन एकदम घर से फिरंट होजाता। अक्सर तब उन्हें कोई बाहर का काम आ निकलता। तब पानी के लिए, पान के लिए, एशट्रे और उगालदान के लिए मोहन और उनके पिता ही नहीं, हमें भी पुरुषार्थ करना पड़ जाता।

तीन दिन तो मित्र हमारे क़ाबू में रहे, लेकिन चौथा दिन आते-आते वह भी धीरज छोड़ बैठे। या तो पत्नी ने उन्हें भरा हो या खुद ही उन्हें बोध हुआ हो कि सबेरे ही उन्होंने बैठक में टंगे मेरे कपड़ों को उठाकर मेरी अटैची पर फैंक दिया। बोले—"इस तरह ये फैले हुए ठीक नहीं लगते।" जब इसका भी कोई असर नहीं हुआ तो मेरी बार-बार पान खाने की आदत पर लैक्चर पिला उठे। हमने सोचा कि ये तो हजरत की पुरानी आदतें हैं, लेकिन जब दोपहर को भोजन में मेरे साथ वह केवल दो फुलके खाकर ही उठ गए तो पहली बार मेरा माथा ठनका—मामला जैसा हम समझते थे वैसा नहीं, अधिक गंभीर है। शाम को आए तो किसी बात पर अपनी पत्नी से इस कदर जूझ पड़े कि मुझे शक हुआ कहीं मार-पीट न होजाय। मैंने उधर कान लगाए। जानना चाहा कि आखिर बात क्या है? जो कुछ सुना उसका सारांश यह है—

"तो मैं क्या करूँ ? यह कमबख्त तो टलता ही नहीं।"

"वह टलता नहीं, या तुम टालते नहीं ? तुम्हें क्या, खटना तो मुझे पड़ता है।"

"तो भागवान, बता मैं क्या करूँ ?"

"मैं बताऊँ ? फेंक दो उस निठ्ठले की अटैची बाहर ! मरा, ऐसा जम गया है जैसे उसीके बाप का घर हो।"

लखनऊ की हमारी मेहमानदारी अब 'क्लाइमैक्स' पर पहुँच गई थी। न जाने क्यों तुलसीदास की यह चौपाई हमें स्मरण हो आई—'आगे चले बहुरि रघुराई।' हमने अपना सामान अटैची में ठूँसा, बिस्तर लपेटे, कपड़े पहने और मित्र अन्दर से लौटे तो हमने उनसे कहा—"अच्छा भाई नमस्ते !"

मित्र के अन्दर क्या था यह तो वही जानते होंगे, प्रकट में उन्होंने यही कहा—"अरे अभी से।"

हमने अपने मन में सोचा—बस, इतनी ही यादगार काफी है लखनऊ की। लेकिन प्रकट में यही कहा—"छुट्टियाँ खत्म हो रहीं हैं, अब चलना ही चाहिए।"

मित्र ने गहरी साँस ली, जिसमें से एक अर्थ जुदाई के दुःख को प्रकट कर रहा था और दूसरा कह रहा था—चलो कंटक कटा !

हमने भी पीछे मुड़कर न देखा। जो मिल गई, वह रेल पकड़ी। जिस दर्जे का मिला, टिकट खरीदा। जहां मिली, वहां बैठ गए। जब गाड़ी ने सीटी दे दी और जब सचमुच वह चल पड़ी तो उसके पहियों की ध्वनि के साथ मेरे मन में भी यह कहावत बज ही उठी—

"जान बची और लाखों पाए।"